निवेदन

जो वृक्ष है वही समाज है ।

किसी समय हमारा वृक्ष हरा-भरा था। पक्षियों का कल रव गूंजा करता था। आतप के ताप के मारों को शरण मिला करती थी।

पर आज वृक्ष सूख रहा है—जल के अभाव में। काक-गृद्धो का बसेरा है कर्ण-कटु स्वर है। निराश्रय है, निराशा है।

पर हृदय में अभिलाषा है। आशा है—वृक्ष फिर से हरा-भरा होगा। आशा-अभिलाषा के 'बिन्दु-बिन्दु' उड़ेले जा रहे हैं महाविटप की जड़ों में।

प्रयास अल्प है, नगण्य है। पर अनुगमन की सम्भावना से युक्त है। और फिर बूंद-बूंद मिल कर ही तो सागर बनता है।

• • •

नवीन कुछ नहीं है। मौलिकता का नाम भी नहीं

हैं। सब कुछ उच्छिष्ट है उन महापुरुषों का जो अन्तर्द्रष्टा थे, त्रिकालद्रष्टा थे। बस, भाषा का आवरण अपना है। आवृत वस्तु कभी भली लगती है, कभी बुरी। भले-बुरे का निर्णय करने का अधिकार उन्हीं को है जिनकी सेवा में प्रस्तुत है।

उच्छिष्ट होने से क्या किसी वस्तु का महत्व कम हो जाता है? भगवान् का तो उच्छिष्ट ही प्रसाद होता है। भगवान् का उच्छिष्ट बाँटने वाले पुजारी का गौरव भी मिल सका तो अहोभाग्य होगा, अँधे के हाथ बटेर होगी!

अनेक इष्ट बन्धु हैं जिनसे सतत प्रेरणा मिलती है। उनमें से एक प्रमुख हैं श्री बजरंग शरणजी तिवारी जिन्होंने समय-समय पर मेरी स्थूल दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान की है और कहीं-कहीं तो मैंने उनके भावों का निर्म भर दिया है। अन्य सभी कृपालु *बन्धुओं सहित श्री तिवारीजी के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता* व्यक्त करूँ—मेरी पहुँच के बाहर है।

अन्त में, क्षमा-प्रार्थी हूँ उन महानुभावों के प्रति जिनके जीवन से सम्बधित घटनाओं का उल्लेख परोक्ष रूप में पुस्तक में आ गया है—घटनाएँ तो केवल माध्यम हैं भावों को व्यक्त रूप देने का।

सादर ससम्मान सेवा में।

—तिलक

मेरे अन्तर के देव
तुम्हारे चरणो में

बिन्दु-क्रम

● ● ●

इन पर दया करें

रात्रि के बारह बजे होंगे। मैं कार्यालय में बैठा काम कर रहा था। यकायक कानों में आवाज पड़ी—"उठता क्यों नहीं ? सोने के लिए तनख्वाह मिलती है ?"

मेरा ध्यान भंग हुआ। देखा कि कार्यालय का एक उत्तरदायी कर्मचारी एक बालक को जगा रहा था। बालक की उम्र १२-१३ वर्ष से अधिक न होगी। बालक दिन भर के परिश्रम से थक कर चूर हो चुका था, उसे खींच कर उठा ही तो दिया गया। उसे नौकरी जो करनी थी !

● ● ●

मेरे हृदय पर आघात हुआ। मैं सोचने लगा कि १२-१३ वर्ष की उम्र भी क्या नौकरी करने की होती है ? क्या इस उम्र में ही जीवन का सम्पूर्ण भार सभाल सने की क्षमता होती है ?

मेरे मानस-पटल पर सम्पन्न घराने का चित्र खिंच गया। कितने लाड़-प्यार से बालकों को पाला जाता है! कहीं किसी प्रकार का कष्ट न हो जाय, कहीं किंचित् अव्यवस्था न हो जाय!

बालक-बालक ही रहेगा—धनिक का हो या निर्धन का। केवल इसलिए कि एक बालक निर्धन घराने में उत्पन्न हुआ है—स्वेच्छा से नहीं तो दैवयोग से—उसकी समस्त कोमल मनोवृत्तियों को कुचल कर उसके जीवन को नीरस बनाने और एतदर्थ उसके भावी जीवन के विकास का मार्ग अवरुद्ध करने का अधिकार किसी को क्या है?

हम अपने हृदय पर हाथ रख कर सोचें—हमारे भी बालक हैं, उनके प्रति हमारे मन में कितनी ममता रहती है, कितना स्नेह रहता है! क्या हम उन बालकों के प्रति भी उतनी ही ममता प्रदर्शित नहीं कर सकते, जिन्हें भाग्य के क्रूर थपेड़ों ने क्षत-विक्षत कर दिया है, जो अपने जीवन की डगर पर ठोकरें खाते हुए क्षमा और ममता की भिक्षा की आशा से हमारे पास आते हैं?

उनकी अज्ञानता और मजबूरियों का लाभ उठाने की वृत्ति सम्पूर्ण समाज के भाग्य पर कठोर और निर्मम कुठाराघात है। ब्रिटेन में बहुत पहले ही बालकों का शोषण रोकने के लिए कानून बना और भारत में भी कुछ इस प्रकार के कानून बने हैं। किन्तु मैं कानून की चर्चा करने के लिए प्रस्तुत पंक्तियाँ नहीं लिख रहा।

मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि हम भारतवासी हैं,

भारतीय संस्कृति के अनुयायी हैं—उस भारतीय संस्कृति के जो छोटे से छोटे कीट-पतंग को भी कष्ट-मुक्त करना चाहती है। क्या उसका पावन संदेश अंगीकार कर हम अनाथ-विवश बालकों के प्रति स्नेह नहीं उड़ेल सकते ?

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि जीवन के निर्माण के लिए कठोरता कुछ अंशों तक आवश्यक है और वह भी बाल्यकाल में ही, किंतु कठोरता जीवन को नियंत्रित करने के लिए चाहिए, जीवन को कुचल डालने के लिए नहीं। जिस निर्ममता का मैंने उल्लेख किया, है, वह जीवन का निर्माण नहीं करती, अपितु जीवन-यंत्र को जकड़ कर खड़ी हो जाती है !"

● ● ●

स्वयं कुल्हाड़ी न मारें

कोई बीस वर्ष पुरानी घटना होगी।

एक ७-८ वर्ष का बालक बीड़ी पीता चला आ रहा था। एक महानुभाव ने देखते ही उसके हाथ से बीड़ी छीन कर फेंक दी और एक चपत रसीद करते हुए कहा, "मूर्ख! जरा-सा होकर बीड़ी पीता है! इतने का घी-दूध खाएगा-पीएगा तो अंग लगेगा।"

बालक निगाह नीची किए आगे बढ़ गया। मैं समझता हूँ, बालक और उक्त महानुभाव का कोई संबंध नहीं था।

• • •

मुश्किल से एक वर्ष पुरानी घटना होगी। उसी नगर में एक छात्र ने एक लड़की से छेड़-छाड़ की। एक वृद्ध महानुभाव ने उसकी यह हरकत देखकर उसे डांटा। उत्तर में छात्र बड़बड़ाया—"बुड्ढे! चुप रह, हमारे बीच में बोलने का परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

छात्र तो इतना कहकर ही चला गया। परन्तु थोड़ी देर में ही चार-पांच लोग हल्ला-गुल्ला मचाते हुए उक्त वृद्ध के पास आ पहुँचे और लगे अनाप-शनाप गालियाँ बकने। पहले तो मेरी समझ में उस गाली-गलौज का कारण ही नहीं आया, किंतु गौर से सुनने पर पता चला कि गाली-गलौज का कारण उक्त वृद्ध द्वारा उक्त छात्र को समझाया जाना ही था। गाली-गलौज करने वाले छात्र के पिता व भाई थे और उनकी शिकायत थी— हमारा फलना-फूलना इस बुड्ढे को अखरता है। अमुक पार्टी का है, सो गली-मोहल्ले के सब लोगों को खा जाना चाहता है।

कहने की जरूरत नहीं कि वृद्ध महोदय और गाली-गलौज करने वाले पड़ोसी हैं।

• • •

यथार्थ में, मैं पहली घटना भूल चुका था, क्योंकि जिस युग की वह घटना है, उस युग में उसका घटित होना कोई अनोखी बात नहीं थी। परन्तु जब दूसरी घटना घटित हुई, मेरी आँखों के सामने पूर्व घटना सहज ज्यों की त्यों घूम गई।

मेरे मस्तिष्क मे विचारों का तूफान उठ पड़ा और उसने मेरे समस्त मानस-तन्तुओं को एक ओर से दूसरी ओर तक बुरी तरह झकझोर डाला। प्रश्नों की शृंखला मेरे मस्तिष्क में जुड़ने लगी—क्या आज राजनीति हमारे जीवन में इतनी घुस गई है कि हम यह भी सहन नहीं कर सकते कि कोई हमारी सन्तानों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा करे? क्या

हमारे प्रश्रय के कारण ही हमारी संतानें उच्छृंखल और उद्दंड नहीं होती जा रही हैं ? क्या हमको अपने इस किए-कराए का फल नहीं भुगतान पड़ता ? उस समय जब हमारी संतानों की उद्दंडता 'मियाँ की जूती, मियाँ की चाँद' बन जाती है, क्या हम ईश्वर और भाग्य को कोस कर अपने दिल के गुब्बार नहीं निकालते हैं ?

लेकिन बेचारे ईश्वर और भाग्य का क्या कसूर ? कर्म के अनुसार फल देना वे कैसे बन्द कर दें ? बबूल के बीज से आम का पेड़ कैसे उगा दें ?

न भूलें, कर्म के विपरीत फल देने का अधिकार या सामर्थ्य किसी में नहीं है। हम स्वयं अपनी संतानों के भाग्य-विधाता हैं। यदि हम निज संतानों के सुधार को राजनीति का विषय न बनाएँ, अपनी संतानों की अल्प से अल्प उद्दंडता की उपेक्षा न करें, किसी भी स्थिति में उनकी उच्छृंखलता को प्रश्रय न दें, तो सच मानिए हमारी संतान का, जो निश्चय ही हम से अधिक समय इस संसार में रहने वाली है तथा हमारी ख्याति अथवा कुख्याति का कारण बनने वाली है, भाग्य-निर्माण हो सकेगा !

• • •

बालकों की शिक्षा

"ओ शीला ! ये जूते उठाकर-रख देना'''अच्छा डैडी-ममी मैं चली'''टाटा !"

ये एक छोटी-सी बच्ची के शब्द थे। वह स्कूल जा रही थी। बच्ची मेरे मित्र की इकलौती पुत्री थी। मेरे मित्र कोई नई फैशन को पसंद करने वाले नहीं तो एक पुराने विचारों के व्यक्ति हैं। किंतु उनका यह विचार अवश्य है कि सामान्य स्कूलों में बच्चे बिगड़ जाते हैं, उन पर श्रेष्ठ संस्कार नहीं पड़ते। इसीलिए उन्होंने अपनी बच्ची को 'कान्वेंन्ट' मे भर्ती कराया हुआ है।

थोड़ी देर पश्चात् मैंने मित्र से पूछा, "यह शीला कौन है ?"

उन्होंने सामान्य रूप में बताया, "मेरी छोटी बहन का नाम शीला है।"

अब मेरे अन्तर मे विचारों का चक्रवात प्रारम्भ

हो गया। शीला आखिर बच्ची की बुआ हुई। भारतीय परिवार मे बुआ का स्थान माँ से कम नहीं होता। छोटी सी बच्ची अपने जूते उठाकर रखने का हुक्म अपनी बुआ को दे, कितने आश्चर्य का विषय है। मेरा हृदय न माना और मैं मित्र से पूछ ही बैठा, "क्यों भाई, तुम्हें अपनी बच्ची के व्यवहार पर क्या कभी आश्चर्य नहीं होता ? क्या उसके द्वारा अपनी बुआ को आज्ञा दिए जाते देखकर तथा 'नमस्कार' या 'प्रणाम' के स्थान पर 'टाटा' किए जाते देखकर कुछ आश्चर्य नहीं होता ?"

"क्यों ? आश्चर्य की क्या बात है ? उसके स्कूल में यही सिखाया जाता है। मैंने तो कभी इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी नहीं किया।"

● ● ●

मैं मानता हूँ, समाज मे कितने ही ऐसे माता पिता हैं, जो समाज के दूषित वातावरण से पुत्र पुत्रियों को दूर रखने के लिए ईसाई-सचालित विद्यालयों मे शिक्षा प्राप्त कराने भेजते हैं। उनके मस्तिष्क में कभी यह विचार भी नहीं उठ पाता कि उनके छोटे-छोटे बच्चों मे शनै शनै उस विष का सचार किया जा रहा है, जो उन्हें भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता से दूर खींचकर पाश्चात्य सस्कृति व सभ्यता के ढांचे मे ढाल रहा है। एक विष के प्रभाव से बचाने के प्रयास में दूसरा विष सहर्ष अपने हाथों ही अपनी सतानों को पिलाने मे हमें गर्व का अनुभव हो रहा है।

इतना ही नहीं, यदि आप 'कान्वेण्ट' मे शिक्षा प्राप्त करने

पाले किसी बच्चे से बातचीत करने लगें तो वह इंगलैण्ड के चोरों की सूची सुना देगा, बाइबिल के उदाहरणों की फहरिश्त आपके समक्ष प्रस्तुत कर देगा, किंतु यदि महाराणा प्रताप, शिवाजी, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी का नाम आप ले दें तो वह थोड़ी देर आपके मुंह की ओर आश्चर्य तथा अविश्वास-भरी दृष्टि से देखेगा और कुछ सोचता हुआ तुरन्त बोल उठेगा, "हमारे 'सर' (अध्यापक) ने नहीं बतलाया। यह कभी नहीं हो सकता। सिकन्दर से बड़ा कोई विजेता हुआ है ! ईसा से बड़ा कोई महात्मा हुआ है !!"

सबसे दुःख का विषय है कि हम स्वयं को 'एरिस्ट्रोक्रेट' (कुलीन) प्रदर्शित करने के लिए इतने उत्सुक तथा लालायित हो उठे हैं कि हमें माँ 'या' पिता' कहलाने में उतना गौरव का अनुभव नहीं होता जितना 'डैडो' 'या' 'पापा' अथवा 'ममो' कहलाने में होता है। 'नमस्ते' या 'प्रणाम' में हमें वह रौनक नहीं दिखाई देती जो 'गुड मार्निंग' या 'टा-टा' में दिखाई देती है। यह भारत का दुर्भाग्य है।

अंग्रेजी भाषा का ज्ञान बच्चों को प्राप्त हो, इसका मैं विरोधी नहीं, किन्तु अंग्रेजी के प्रभाव से भारतीय परम्पराओं का ज्ञान ही बालकों से लुप्त हो जाय, यह किसी भी प्रकार सहन किया जाना उचित नहीं। हमें इस ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

यदि हमें वास्तव में भारतीय संस्कृति से प्रेम है, तो अपने

बालकों को उन 'कान्वेण्ट्स' से दूर ही रखना होगा जिनके अध्यापक तथा अध्यापिकाएं भारतीय परम्पराओं के प्रति बालकों के मन में घृणा का भाव उत्पन्न करने के लिए उन्हीं बालकों को जान-बूझ कर महत्व प्रदान करते हैं, जिन्हें अभारतीय परम्पराओं का अनुकरण आ जाता है। यह मैं इस आधार पर कह रहा हूँ कि मैंने कान्वेंट में पढ़ने वाले छोटे-छोटे बच्चों का कुछ दिन 'ट्यूशन' किया है। बच्चे अत्यन्त प्रतिभावान् थे, किन्तु दुर्भाग्य यही था कि घर के वातावरण से प्रेरित होने के कारण वे ईसाई परम्पराओं को कभी न अपना सके। परिणाम रहता कि असंगत कारणों को खोज करके 'कान्वेंण्ट' के अध्यापक प्रतिदिन उनको डाँटते और उनके रहन-सहन को कोसते। यह सब इस अभिप्राय से किया जाता कि बालकों मे अपने रहन-सहन, पहिनाव-उढ़ाव के प्रति घृणा हो जाय। बालक रोज आकर मुझे बताते। आखिर मुझे उनके माता पिता के समक्ष समस्त स्थिति रखनी पड़ी। कुछ दिन बाद ही उन बालकों को कान्वेंण्ट से हटाकर दूसरे स्कूल में प्रविष्ट करा दिया गया। जो बालक ठीक से उत्तीर्ण भी नहीं किये जाते थे, वे कक्षा में अच्छा स्थान प्राप्त करने लगे।

यदि वास्तव में हमे वर्तमान विद्यालयों की प्रणाली रुचिकर नहीं, तो ऐसे विद्यालयों की स्थापना करें, जिनमें भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं के आधार पर आज की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत रूप में बालकों को शिक्षा प्रदान की जा सके। कुछ स्थानों पर शिशु मन्दिर चल भी रहे हैं।

इन शिशु-मन्दिरों ने शिशुओं में अनुशासित, व्यवस्थित तथा भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत जीवन का संचार करने का जो प्रयास किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। इस कार्य को यदि जनता तथा शासन का सहयोग प्राप्त हुआ, तो वह 'कान्वेंट्स' का स्थान सरलतापूर्वक ले सकेंगे और बालक अभारतीय संस्कारों से संस्कारित होने से बच सकेंगे।

● ● ●

यह जो शिक्षण नहीं है

मैं उन दिनों विद्यार्थी था। अनुभवहीन था। पेट पालने के लिए ट्यूशनों की खोज में था। एक महानुभाव ने अपने बच्चों को पढ़ाने का भार सौंपा। पर शर्त थी कि पहले बालकों को स्कूल में भरती कराया जाय। कोशिश शुरू हुई। छठी कक्षा में स्थान नहीं था, बालकों को सातवीं कक्षा में भरती करा दिया। माता-पिता भी खुश थे और बालक भी! एक कक्षा अप्रयास आगे हो जाना खुशी की बात भी है!

● ● ●

घटना घटित हुए एक दर्जन वर्ष बीत चुके हैं। जिन बालकों का उल्लेख किया उनमें से एक दो दो तीन-तीन वर्ष असफलता का श्रेय प्राप्त करते हुए इण्टरमीडिएट में पहुंच गया है और दूसरे को मानसिक दृष्टि से अक्षम मानकर पढ़ाई से बैठा लिया गया है!

मुझे उन दोनों बालकों की अवस्था देखकर दया आती है ! दो बालकों का जीवन मेरे कारण बरबाद हो गया ! जितना भार उठा सकते थे, उन पर उससे अधिक लाद कर, उन्हें बैठा दिया गया ।

परन्तु इस पातक के लिए मैं, बालकों के अभिभावक और स्कूल के अध्यापक समान रूप से दोषी हैं ! कितना बड़ा पाप है मेरा कि ट्यूशन प्राप्ति के लालच मे इस तथ्य का विचार भी न कर सका कि आवश्यकता से अधिक बोझ कुछ क्षण उठाया जा सकता है, किंतु सदा उसे उठाए चलना सम्भव नहीं हो सकता ! ओह, माता-पिता को तो आज भी समझाना मुश्किल है कि एक कक्षा आगे भरती कराने का क्या दुष्परिणाम हुआ है । वे तो आज भी यही सोचते हैं कि उन्होंने जो कुछ किया । यह संतान के लिए हितकर ही था ! और स्कूल के अध्यापकों को प्रवेश के समय क्या मतलब ! जो चाहे जिस कक्षा मे भरती हो जाय ! आखिर पैसा माँ-बाप का है, फेल-पास होना बालक के भाग्य का है !!

● ० ●

यह एक घटना है । मुझ से सम्बंधित होने के कारण उसका मुझे परिचय है ! किंतु समाज में न जाने कितने बालकों का जीवन इसी प्रकार ध्वस्त हो रहा है ! छात्रों की प्रज्ञा को आए-दिन कोसने वालों की संख्या की कमी नहीं, किंतु इन परिस्थितियों की ओर निहारने हेतु किसी के पास अवकाश नहीं है ।

पड़ोसियों के बालकों की पढ़ाई से ईर्ष्या कर अपने बालकों

को न जाने कितने माता-पिताओं द्वारा आवश्यकता से अधिक ऊँची कक्षाओं में भरती कराया जाता है; नतीजा अच्छा दिखाने के लिए न जाने कितने छात्रों को अनुचित रूप में अगली कक्षाओं में चढ़ाया जाता है !!

इस समस्त चक्र में बिचारे बालकों की प्रज्ञा तो कुंठित हो ही रही है, शरीर भी जर्जर हुआ जा रहा है। शिक्षा आभूषण न होकर, भार बनी जा रही है। और इस भार से दब दबकर बालकों का कचूमर निकला जा रहा है।

क्या हम इस दशा के सुधार के लिए प्रस्तुत होंगे ?

• • •

निर्धनता और शिक्षा

एक बहुत ही गरीब माता-पिता का लड़का है। बुढ़ापे के कारण पिता कमाने से लाचार हैं। छोटी अवस्था में ही लड़के को नौकरी की तलाश में घर-बार छोड़ कर आगरा आ जाना पड़ा। उन दिनों मैं आगरे में ही था। देखता, बेचारा इधर-उधर काम करता और शाम को चूल्हा फूंकता। धीरे-धीरे मेरा उससे निकट सम्पर्क आया। मुझे उसकी दशा देख कर दया आती, किंतु उत्साह देख कर प्रसन्नता होती।

एक दिन मैंने उस लड़के को पढ़ने का सुझाव दिया। सौभाग्य से उसने सुझाव मान कर कालिज में नाम लिखा लिया। इंटरमीडिएट पहले ही था, बी० ए० प्रथम वर्ष की पढ़ाई शुरू कर दी। दिन के स्थान पर अब रात में काम करने लगा किसी कारखाने मे।

दिन भर कालिज, शाम को चूल्हा और बाद में

आठ से लेकर रात के एक बजे तक कारखाने में काम। केवल कुछ घंटे विश्राम। सुबह का समय स्वाध्याय के लिए। उसके जीवन की व्यस्तता को देख कर मैं अत्यंत दंग था!

आशा थी कि फीस माफ हो जायगी, किंतु कोई प्रभावी सिफारिश न होने के कारण वैसा न हो सका। विषम परिस्थिति उपस्थित हो गई। मुझे तो लगा कि कहीं वह अध्ययन ही न छोड़ बैठे। मगर जब मुझे पता लगा कि उसने फीस का खर्चा पूरा करने के लिए सुबह के समय ट्यूशन कर लिया है, मैं उसकी कर्मठता पर मुग्ध हो उठा और भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि उसके सद्प्रयास में सफलता प्रदान करें।

● ● ●

परीक्षाएँ हुईं। परीक्षा फल आया। उक्त लड़का—लड़का न कह कर उसे छात्र कहना अधिक अच्छा होगा—तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। भाग्य की विडम्बना कि अपनी कक्षा में वही अकेला तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ; कोई द्वितीय था, कोई प्रथम।

मुझे संतोष था इसी में कि वह इतना कठोर श्रम करते हुए भी उत्तीर्ण हो गया। परन्तु दुनिया में हर प्रकार के ही लोग रहते हैं। अध्यापकों ने ताने दिए—तुम्हीं क्लास के 'लास्ट स्टूडेंट' हो? सहपाठियों का तो कहना ही क्या!

● ● ●

आज जब मैं कतिपय शिक्षा शास्त्रियों, शिक्षा-आयोगों और अध्यापकों की पुकार सुनता हूँ कि साधनहीन छात्रों के प्रवेश पर

प्रतिबंध लगना चाहिए, मेरी आँखों के सामने उक्त छात्र का चित्र नाच उठता है। कितना दुर्भाग्य है इस देश का कि सरस्वती के मंदिरों में लक्ष्मी की पूजा होने जा रही है; प्रज्ञा, धर्मठता, लगन के स्थान पर झूठे 'स्टैंडर्ड' को कायम रखनेवाले साधनों का विचार किया जाने लगा है! परिस्थितियों की कठोर चट्टानों के नीचे दबी जा रही उत्साह-धारा को वेग देने के स्थान पर सदा सर्वदा के लिए सुखा डालने का विचार किया जा रहा है।

कितने आश्चर्य का विषय है कि अभी हाल में एक विश्व-विद्यालय से सम्बंधित प्रतिवेदन में कतिपय प्राचार्यों की केवल इसलिए आलोचना की गई है कि उन सहृदयों ने कक्षाओं में ऐसे छात्रों को भी स्थान दे रखा है जिनके पास पहिनने को कपड़े और जूते तक नहीं हैं। प्रतिवेदन प्रस्तुत करनेवालों ने यदि भारतीय इतिहास के उन पृष्ठों को देख लिया होता तो अच्छा रहता जिन पर गुरु सदीपन और दाने दाने के लिए मुहताज विप्र सुदामा की गाथाएँ अंकित हैं।

क्या हम स्वयं को ही भुलावे में नहीं डाल रहे हैं? क्या हम अपनी ही कमियों को छिपाने के लिए ऐसी अजीबोगरीब दलीलें नहीं दे रहे हैं? शायद हम पर्वत की उन चोटियों पर बैठ गए हैं जहाँ से हमारी दृष्टि नीचे तक पहुँच ही नहीं पाती; जमीन पर हर चलनेवाला हमें एक काला धब्बा ही दिखाई देता है और उसे झाड़ पोंछकर साफ कर देने तक ही हमारा दिमाग दौड़ पाता है।

लेकिन, समस्याएँ उतनी ही नहीं हैं जहाँ तक हमारी स्थूल दृष्टि पहुँच पाती है। समस्याओं की गहराई तक पहुँचने के लिए हमें आसमान से धरती पर उतरना होगा, अपनी दृष्टि को सूक्ष्म करना होगा। कहीं ऐसा न हो कि हम विश्वविद्यालयों के 'स्टैंडर्ड' को उठाने के चक्कर में उन कोमल नवांकुरों को ही कुचल दें जो पाषाण के वक्ष को फोड़ कर उगने का प्रयास कर रहे हैं—फिर इस प्रयास में उन्हें कितनी भी कम या अधिक सफलता क्यों न मिल रही हो। इस २८० या ३०० रुपए वार्षिक औसत आय वाले देश में कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड या कोलम्बिया के दृश्य खड़े करने की कल्पना करना 'मानसिक उड़ान' के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

ऐसी उड़ानों के स्थान पर आवश्यक यह है कि हम छात्रों के जीवन में सादगी का संचार करें—अपना उदाहरण प्रस्तुत करके; बाह्य आकर्षणों की ओर से छात्रों का मस्तिष्क हटा कर ज्ञान-स्रोतों से सम्बद्ध करें। माँ भारती के देवालय में उन सभी को स्थान हो जो माता की वीणा की झंकार के साथ निज अन्तर के स्वर को मिलाना चाहते हैं—फिर ऐसे लोग चाहे नंगे-भूखे, साधनहीन-गृहविहीन ही क्यों न हों। हाँ, जो लक्ष्मी के पग-नूपुरों की ध्वनि में अपना मन रमाना चाहते हैं, उन्हें वीणावादिनी के शुचि देवालय से बाहर ही रखना होगा।

● ● ●

हृदय विदारक

उस दिन विश्वविद्यालय का संगीत-कार्यक्रम समाप्त होते काफी रात बीत गई। छात्राएँ घर लौट रही थीं। यकायक उनपर आक्रमण हुआ। आक्रमणकारी कौन थे? सहपाठी! इरादा रुपया-पैसा लूटने का नहीं था; अपितु रुपए से कहीं अधिक कीमती वस्तु——अस्मत——लूटने का था!!

● ● ●

ये घटनाएँ आम हो गई हैं। या तो छात्र-छात्राओं के बीच पारस्परिक स्वीकृति से अवैधानिक सम्बंध स्थापित हो जाते हैं अथवा बलात् छात्राओं की इज्जत लूटने का प्रयास किया जाता है। सड़क पर निकलती लड़कियों पर आवाजें कसा जाना, उन्हें देखकर सीटियाँ बजाया जाना, उनको ओर घूर-घूर कर निर्लज्जतापूर्वक देखा जाना, उनकी साइकिलों से साइकिलें भिड़ाया जाना, या

भीड़-भड़क्के में उन्हें धक्के देकर परेशान किया जाना एक आम बात हो गई है। ऐसे कृत्य करने वालों को न लज्जा है, न समाज का भय है और न कानून का डर। हाँ, यदि किसी दिन कोई सभ्य इस गुंडागर्दी के खिलाफ खड़ा हो जाता है, तो गुंडों के संगठित दलों द्वारा यह शामत आती है उस पर कि जान बचाना मुश्किल हो जाता है। शुभचिंतक भी समझाते हैं—अरे यार, क्या पड़ी है तुमको! लड़के-लड़कियों के ये रोज के तमाशे हैं!!

यदि ये रोज-रोज के भी तमाशे हैं तो क्यों हैं, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा। जिस देश में नारी के पावित्र्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता रहा हो, उसमें इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ—एक दो नहीं सहस्रों की संख्या में और वह भी कभी-कभी नहीं आए दिन—घटित होना चिंता का ही नहीं, कलंक का विषय है!

'कलंक' कहने मात्र से कलंक नहीं हट जायगा। उसकी तह में घुस कर मूल समस्या को खोजना होगा। आखिर मूल समस्या है क्या?

नारी के सम्बंध में दो दृष्टिकोण हैं—एक भारतीय और दूसरा पाश्चात्य। भारतीय दृष्टिकोण नारी को प्रमुखतया माँ के रूप में देखता है और पाश्चात्य रमणी के रूप में। दृष्टिकोण की इसी भिन्नता ने विवाह, पातिव्रत, सतीत्व के सम्बंध में उभय जगतों में वैचारिक भिन्नता निर्माण कर दी है।

भारतीय नारी पाश्चात्य रंग-ढंग, वेश-भूषा अपनाने के

पश्चात् भी पाश्चात्य नहीं बन सकी है। उसका रूप-रंग पाश्चात्य हो गया है, मगर उसका हृदय अब भी भारतीय बना हुआ है। इसी का परिणाम है कि जब कोई उसके रूप-रंग के अनुसार उसके हृदय को भी पाश्चात्य मानकर उसके साथ व्यवहार करने का प्रयास करता है, उसकी आँखें शील से झुक जाती है, वह पृथ्वी मे गडती-सी प्रतीत होती है। मनचले उसकी इस स्वाभाविक वृत्ति का अनुचित लाभ उठाते है। आवाजें कसने का लोगों को इसीलिए साहस हो पाता है!

कभी-कभी स्थिति आगे भी बढ़ती है। नारी के पाश्चात्य रंग-ढंग के कारण उभडी असयमी पुरुष की वासनाओ को जब नारी के भारतीय हृदय से अपेक्षित उत्तर नहीं मिल पाता, वह बल के प्रयोग का मार्ग स्वीकार कर बैठता है।

पाश्चात्य जगत् ने नारी और पुरुष के सम्बधों के बीच नाज-नखरों की अदृढ दीवारें खडी की होगी, किंतु ऐसे सुदृढ मनोवैज्ञानिक बाँध नहीं बाँधे है जिन्हें तोडने मे असमर्थ नारी पर अधिकार करने के लिए पुरुष को बल के प्रयोग का विचार करना पडता हो। भारतीय परम्पराओ के आधार पर निर्मित मनोभूमिका मे पुरुष और नारी का सम्बध स्थापित होना स्वेच्छा पर बहुत अधिक अवलम्बित नहीं है—या यों कहा जाय बिलकुल अवलम्बित नहीं है। नर नारी के ससर्ग को भारतीय समाज वैयक्तिक' विषय की अपेक्षा सामाजिक विषय अधिक मानता है और इसलिए जब कोई युगल इस विषय को वैयक्तिक क्षेत्र मे

खींचता है, उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। इसी का परिणाम है कि 'प्रेम विवाह' के मार्ग पर बढ़ने वाले युवक-युवतियों को वर्षों मानसिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है और यदि कहीं यौवन के प्रवाह में सम्बन्ध स्थापित हो ही जाते हैं, तो उन्हें दबाने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं, भ्रूण हत्याएँ की जाती हैं, नवजात शिशुओं को सड़क के किनारे या रेल के डिब्बों में छोड़ा जाता है।

इस प्रकार हम पाश्चात्य रंग-ढंग और परम्परागत भारतीय मनोभूमिका के दो छोरों के बीच झूलते-झूलते अमानुषिक बनते जा रहे हैं। इस अमानुषिकता को पनपाने का दायित्व विशेष रूप से उन लोगों पर है जो पाश्चात्य रंग-ढंग अपना कर भी भारतीय परम्परागत परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं।

हम पाश्चात्य जीवन की श्रेष्ठता की दुहाई देकर सह शिक्षा अपनाना चाहते हैं, किंतु लड़के-लड़कियों के अनुचित सम्बन्धों, लज्जाजनक छेड़छाड़ के अभिशापों से मुँह मोड़ना चाहते हैं! हम बबूल के बीज बोकर आम के फल खाना चाहते हैं। यदि सह-शिक्षा जैसी प्रथाओं के कारण पाश्चात्य जगत् की लड़कियों का एक बड़ा भारी भाग कौमारावस्था में ही गर्भ धारण कर लेता है अथवा वहाँ के पुरुष-समाज का बड़ा भारी भाग वीर्य सम्बन्धी रोगों से पीड़ित रहता है, तो उन प्रथाओं को अपनाने पर भारत में भी वही सब दृश्य खड़े नहीं होंगे—कोई समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। किंतु दुर्भाग्य कि जो समझदार की

बुद्धि में नहीं आ सकता, उसी का प्रयोग भारत में किया जा जा रहा है।

मनु से लेकर आज तक सभी भारतीय मनीषियों ने कहा कि लड़के-लड़कियों के सान्निध्य के परिणाम शुभ नहीं होते, किंतु हमने अनुभव से सीखने की अपेक्षा प्रयोगों से ज्ञान सम्पादन करने का हठ पकड़ रखा है। इतना ही क्यों, हमने तो शायद आधुनिक मनु बनने की धुन में 'युवक-समारोहों' का आयोजन कर पुराण-पुरुष मनु को चुनौती देने की ठान रखी है। और जो कुछ रही-सही कसर है उसे सिनेमा के भव्य चित्र पूर्ण कर देते हैं। चित्र-पट पर 'हीरो'-'हीरोइन' के दृश्यों को देखकर न जाने कितने लड़के-लड़कियाँ 'हीरो'-'हीरोइन' बनने की धुन में उस पातकी जीवन का अनुगमन करते फिरते हैं, जिसके कारण सामाजिक जीवन सतत भ्रष्ट होता जा रहा है! पर कौन समझाए, किसे समझाए, कैसे समझाए!

● ● ●

छात्र और परीक्षाएँ

"पेपर देने नहीं गए ?"

"मैंने ड्राप कर दिया है ?"

"क्यों ?"

"दूसरा पेपर बिगड़ गया। फर्स्ट-क्लास आने की कोई सम्भावना नहीं रही।"

"जीवन के एक वर्ष को महत्व देते हो या फर्स्ट क्लास को ?"

"जी ! यदि फर्स्ट क्लास को महत्व न दें तो क्या करें ? फर्स्ट क्लास आने पर डिग्री कालिज में तो स्थान प्राप्त हो जायगा। अन्यथा इण्टर कालिज में ही जिन्दगी बितानी पड़ेगी। ज्यादा से ज्यादा मिले तो १५०) मासिक।"

● ● ●

उपर्युक्त वार्ता मेरे और एम० ए० के एक छात्र के

बीच हुई। इस वार्ता के सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अनेक तथ्य सामने आएँगे।

सर्व प्रथम बात तो यह सामने आएगी कि परीक्षा मे सफलता प्राप्त करना उसी प्रकार भाग्य पर निर्भर है जिस प्रकार क्रिकेट का खेल। यदि क्रिकेट का खेल 'वाई चान्स' है तो परीक्षा भी।

दूसरी बात यह है कि डिवीजन (श्रेणी) का महत्व समय से अधिक समझा जाता है—उस समय से जिसे दुर्लभ और अमूल्य कहा गया है।

तृतीय बात यह कि शिक्षा का मूल्यांकन नौकरी के द्वारा प्राप्त होने वाले वेतन के आधार पर किया जाता है।

ये सब बातें स्वाभाविक हैं। जिस शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत छात्र के मानसिक स्तर का माप घण्टे-दो घण्टे मे किया जाता हो, उसमे सदैव सही परिणाम प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती। स्थिति इस प्रकार की रहती है कि मानो जुआ खेला जा रहा हो। लग गया तो तीर, नहीं तो तुक्का। जहाँ तक मैं समझता हूँ, ससार का कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उसकी मानसिक स्थिति सदैव एक-सी रहेगी। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक नहीं कि परीक्षा के घण्टों मे ही किसी छात्र की मानसिक स्थिति सर्व श्रेष्ठ रहे। इस अवस्था मे यह कैसे समझा जा सकता है कि परीक्षा-काल मे किसी छात्र द्वारा रगे गए पृष्ठ ही उसकी मानसिक स्थिति या स्तर के वास्तविक प्रतीक हैं। मेरी समझ मे तो मानसिक स्तर का माप घण्टे-दो

घण्टे या एक अथवा दो लेख के आधार पर न किया जा कर उसके सम्पूर्ण वर्ष के कार्य पर किया जाना चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति हर विषय के संबंध में एक समान ही विचार व्यक्त कर सके। बड़े-बड़े लेखकों को देखिए। जितनी निपुणता के साथ एक विषय के संबंध में विचार प्रकट कर पाते हैं, उतनी कुशलता के साथ दूसरे के संबंध में नहीं। ऐसी स्थिति में यह कैसे समझा जा सकता है कि प्रश्न-पत्र में प्रस्तुत विषयों पर कुशलतापूर्वक विचार प्रकट न कर सकनेवाले छात्र का स्तर निम्न है और प्रकट करने वाले छात्र का स्तर बहुत ऊँचा है—सम्भव है जिस छात्र ने कुशलतापूर्वक विचार व्यक्त किए उसने कुछ विषय कण्ठस्थ किए हों और उन्हीं में से विषय आ गया हो जब कि दूसरे छात्र ने जो कण्ठस्थ किया हो उसमें से कुछ भी नहीं आया हो। जब छात्रों की योग्यता सर्वक्षेत्रीय होती थी तब की तो बात दूसरी थी, किंतु आज जब कि अधिकांश छात्र सीमित प्रश्नों का अध्ययन करके ही परीक्षा में सम्मिलित होते हैं, इस प्रकार के प्रश्नों के लिए काफी स्थान है।

सबसे बड़ा दोष वर्तमान परीक्षा प्रणाली का यह है कि वह भावी प्रयास का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। उदाहरणार्थ, एक छात्र राजनीतिशास्त्र में तृतीय श्रेणी में एम० ए० उत्तीर्ण करता है। जिन कारणों से तृतीय श्रेणी उसे प्राप्त हुई, इनका तो कोई विचार किया ही नहीं जाएगा; उसे जीवन भर यह

अवसर भी नहीं मिलेगा कि वह परिश्रम करके अपनी श्रेणी को सुधार सके; वह कितनी भी योग्यता प्राप्त करले, किंतु तृतीय श्रेणी का लेबिल उसके माथे पर कलंक के समान चिपटा रहेगा। वह दुबारा परीक्षा मे बैठकर उसे दूर भी नहीं कर सकता, क्योंकि किसी भी विश्वविद्यालय में एक विषय की परीक्षा में दुबारा प्रविष्ट होने की सुविधा छात्रों को प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत, एक बार प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास करके जीवन भर पद के लिये भार बने रहने वाले लोगों की भी कमी नहीं। उनको कौन हटाए ? उच्च पद पर आसीन होना उनका सर्वमान्य अधिकार है क्योंकि उन्होंने किसी न किसी रूप में जीवन में एक बार प्रथम श्रेणी प्राप्त कर ली है। जब योग्यता की अपेक्षा श्रेणी का महत्व अधिक हो जाय, छात्रों द्वारा 'ड्राप' किया जाना कोई आश्चर्य नहीं।

इन सब बातों के कहने का अभिप्राय यह नहीं कि श्रेणी का कोई महत्व नहीं समझा जाना चाहिए। कहने का आशय यह कि श्रेणी को ही सब कुछ नहीं समझा जाना चाहिए। ऐसा कोई उपाय सोचा जाना चाहिए जिससे छात्र को विश्वास रहे कि यदि एक बार उपयुक्त श्रेणी प्राप्त न हो सकी, तो आगे प्रयास करने के लिए अवसर रहेगा। इस विश्वास के कारण वह परीक्षा में सम्मिलित होने मे संकोच नहीं करेगा और परिणामस्वरूप अनेक गरीब माँ-बापों पर पड़ने वाला भार समाप्त हो जायगा तथा अनेक छात्रों के जीवन के वर्ष बच जायंगे जिनका उनके

जीवन में अत्यंत महत्त्व होता है किंतु वे उसे केवल अच्छी नियोजन प्राप्त करने के चक्कर में खो देते हैं। कम से कम मेरा हृदय तो दहल उठता है जब मैं सोचता हूँ कि एक व्यक्ति के जीवन का एक वर्ष निरर्थक हो गया। मानव-जीवन की कितनी महत्ता है! मानव-जीवन के प्रत्येक क्षण का कितना महत्व है!!

क्या समाज के कर्णधार इस समस्या पर विचार करेंगे?

● ● ●

साहबी की बू

उस दिन की बात है। रुड़की विश्वविद्यालय (इंजीनियरिंग) के छात्र से भेंट हो गई। मैंने सरल भाव से पूछ लिया, "भाई, विश्वविद्यालय का कैसा हाल-चाल है?"

"पहले जैसा ही," उत्तर मिला।

"पहले जैसा ही? क्या आज भी पहले जैसी साहबी की बू मौजूद है?"

"जी हाँ, उस मे वृद्धि भले ही हुई हो, कमी किंचित् भी नहीं हुई है। आज भी एक छात्र के तीन-तीन सौ रुपए मासिक व्यय का अधिकांश शान-शौकत पर ही खर्च होता है! जूते भी स्वयं नहीं उतारे जा सकते। और यदि कोई उतारे तो दूसरे लड़के उसे परेशान कर डालें! बिना टाई लगाये कोई छात्र बाजार नहीं जा सकता! बिना 'साहब' के नौकर बात

नहीं कर सकता ! और तो और प्रथम वर्ष का छात्र तृतीय वर्ष के छात्र से बात नहीं कर सकता !"

"ऐसा क्यों ?" मैंने आश्चर्य से पूछा ।

"इसलिए कि तृतीय वर्ष के विद्यार्थी शीघ्र शिक्षा समाप्त कर लेंगे और हो सकता है कि भविष्य में कभी प्रथम वर्ष के छात्रों के अफसर बन जाँय । उस समय, यदि सम्पर्क है तो, रोब कम हो जायगा । कारण, प्रथम वर्ष का कोई छात्र बात-चीत कर ही ले तो, उसके परीक्षांक कम कर दिए जाते हैं !"

"फिर ओवरसियर कक्षाओं के छात्रों की और इधर-उधर काम करने वाले लोगों की तो स्थिति बडी ही भयकर होगी ?"

"इसमें भी कोई संदेह है ! ओवरसियर तो इंजीनियरों के साथ बैठ भी नहीं सकते । एक बार विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह था । पण्डित जवाहरलाल जी नेहरू पधारे थे । एक ओवरसियर इंजीनियरों के साथ बैठ गया था । उसे तुरन्त बाहर कर दिया गया । पण्डित जी ने उक्त छात्र के प्रति इस व्यवहार की कटु आलोचना की । किंतु ये हैं विश्वविद्यालय के छात्र तथा अधिकारी कि इन पर किसी के कहने-सुनने का कोई असर नहीं होता । इसी का परिणाम है कि अन्य विश्वविद्यालयों से एम० एस-सी, एम० ए० करके लोग सरकारी अनुसधान-शालाओं में आते हैं किंतु रुड़की विश्वविद्यालय से निकले इंजीनियर उनको हिकारत की दृष्टि से देखते हैं । यद्यपि वे

इंजीनियर्स अनुसधान का क-ख-ग भी नहीं जानते, तथापि अनुसधान-कर्त्ताओ के अफसर नियुक्त होते हैं !"

● ● ●

उपर्युक्त समस्त वार्तालाप ने मेरे मस्तिष्क पर एक अजीब प्रभाव छोड़ा। जिस राष्ट्र के सविधान मे छुआछूत को मिटाने की व्यवस्था की गई हो, उस राष्ट्र के एक विश्वविद्यालय में मानसिक दासता और अफसरी की बू से प्रेरित 'छुआछत' का ऐसा नग्न नृत्य हो रहा हो! यह देश के लिए एक महान् कलक है।

प्रारम्भ से ही छात्रों के मस्तिष्क मे 'आफीसर' और 'सबार्डीनेट' (मातहत) की भावना का निर्माण कर देना एक वर्ग विशेष मे 'सामन्तशाही मनोवृत्ति' और दूसरे मे 'मानसिक दासता' का निर्माण करना है। ये दोनो ही बातें छात्रो के विकास को रोकने वाली और आपस मे भेद भाव निर्माण करने वाली हैं। ज्ञान के क्षेत्र मे इस प्रकार के भेद-भाव को पनपने देना किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं।

भारत माता की समस्त सतानें समान हैं–कम से कम वे जो ज्ञान का अर्जन करके प्रगति के पथ पर किसी भी सीमा तक बढ़ सकती हैं। क्या हम ओवरसियरों को ओवरसियर ही बनाए रखना चाहते हैं? क्या हम प्रथम वर्ष के इजीनियर को सदा तृतीय वर्ष के इजीनियर से पिछड़ा हुआ देखना चाहते हैं? नहीं, तो यह विभेद कैसा?

फिर, माँ-बाप की गाढ़ी कमाई के आधार पर मौज-बहारें उड़वाकर छात्रों को नवाब बना देना क्या अनुचित नहीं ? मेरा ही नहीं, विचारकों का भी मत होगा कि यदि यह नवाबशाही खत्म हो जाय, तो इंजीनियरिंग की शिक्षा का व्यय भी कम हो जाय और वह क्षेत्र उन छात्रों के लिए भी खुल सके जिनके माता-पिता ५-६ हजार रुपया प्रति वर्ष व्यय नहीं कर सकते।

अंग्रेजी काल में शिक्षा के क्षेत्र को कुछ लोगों तक सीमित रखने के उद्देश्य से शिक्षा को अनापशनाप खर्चीला बना दिया गया था। आज जब कि हम शिक्षा को व्यापक रूप प्रदान करना चाहते हैं, क्यों न इस प्रकार की फजूलखर्ची को रोका जाय ?

समाज को तो इस ओर कदम उठाना ही चाहिए, शासकों को भी इस ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए। केवल भाषणों में 'साहबीपन' की आलोचना कर देने से काम नहीं चलेगा। हमें स्वयं को भी साहबी की बू से विमुक्त कर सामान्य मानव के स्तर पर लाना होगा।

● ● ●

यह जिन्दगी भार है ?

मैं कमरे मे बैठा अध्ययन कर रहा था। सामने से एक तरुण गीत गाता निकला—'दुनिया मे आए हो तो जीना ही पड़ेगा'।

तान मधुर थी, मगर घाव गहरा था। गायक ने गीत के अर्थ पर कभी गम्भीरतापूर्वक विचार किया या नहीं, कहा नहीं जा सकता पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि गीत गायक की रग रग म समा गया था, जिह्वा पर उसने अधिकार कर लिया था और उसे गाने और सुनने मे उसे आनद का अनुभव हो रहा था।

वह पहला दिन था जब मैंने उस गीत को सुना था। मगर उस दिन से आज तक न जाने कितनी बार उसी गीत को ब्याह-बरातों म, उत्सवो और समारोहो में लाउडस्पीकर पर दोहरते सुन चुका हूँ। और जब जब सुनता हूँ, मेरा हृदय चीत्कार कर उठता है—

ओ भारत ! कैसे दिन आ गए हैं कि तेरे पुत्रों को जीवन अभिशाप लगने लगा है, जिन्दगी भार लगने लगी है !

अब वह समय बहुत दूर चला गया है जब कि भारत की संतान मनुष्य-जीवन को कोटि-कोटि जन्मों के पुण्यों का सुपरिणाम मानती थी और सौ वर्ष तक जीने की भगवान् से प्रार्थना करती हुई दुःख और सुख की झंझाओं के बीच समान रूप से दृढ़तापूर्वक खड़े रहने का अदम्य उत्साह प्रदर्शित करती थी।

दुर्भाग्य है कि आज का युवक या तो दायित्व के बंधन से मुक्त होकर 'आवारा' बनना चाहता है या मर कर जिन्दगी से छुटकारा चाहता है ! दोनों की मनोभूमिका एक ही है कि वह जीवन के संघर्ष से भागना चाहता है।

जो जीवन-संघर्ष से भागना चाहता है, सफलता उसका उपहास करती है ; असफलता उसके शीश पर पैर धर कर नाचती है। असफलता के भार से दबा प्राण कराहता है—इससे तो मरना ही अच्छा है। आत्महत्या अपराध है, किंतु आत्मा का हनन घोर पाप है। देखते-देखते लक्ष-लक्ष युवकों की आत्मा का हनन हो रहा है और घोर दुर्भाग्य यह है कि आज के गीतकार और सिनेकार इस आत्मा-हनन में यथाशक्ति सहायता कर रहे हैं। 'आवारा' युवकों के हजार हुए दिल के टुकड़ों में जीने की चाह कौन उत्पन्न करे ? इसी प्रश्न के उत्तर पर आधारित है भारत का भाग्य और भविष्य !

• • •

श्रम-बिन्दु

आए दिन शिकायत सुनी जाती है कि जिस योग्यता और दक्षता के व्यक्ति चाहिए उनका अभाव है। अभाव है, इसमे कोई सदेह नहीं। इस सबध मे चिंता की जानी चाहिए, इस बारे मे भी दो मत नहीं।

परतु बबूल का बीज बोकर आम के वृक्ष की आकाक्षा करना जिस प्रकार युक्तिसगत नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जिस सामाजिक वातावरण और मनोवृत्ति को —जाने या अनजाने— प्रश्रय और प्रोत्साहन मिल रहा है, उसमे योग्यतासम्पन्न और सक्षम जनो के विकास की आशा नहीं की जा सकती।

कौन-सी वृत्तिया हैं ? कौन-सा वातावरण है ?

चारो ओर सस्ते उपायों से सफलता प्राप्त करने की होड लगी हुई है। व्यक्ति बिना श्रम के आकाश के तारे तोडने का स्वप्न देख रहा है! साधना के अभाव मे

भी स्वबुद्धि के प्रयोग के आधार पर नहीं; दूसरों के द्वारा दिए गए प्रमाणों को रटवा कर। दुर्भाग्य समझिए उन छात्रों का जो स्वबुद्धि का उपयोग कर कुछ लिख ही डालें,' क्योंकि शिक्षकों को तब तक कोई बात स्वीकार ही नहीं जब तक उसके पीछे किसी ऐसे व्यक्ति का नाम न जुड़ा हो जिसे वे बड़ा मानते हों। कहना कुछ कटु अवश्य होगा, किंतु कहे बिना मन नहीं मानता—छात्रों को 'लकीर का फकीर' बनाया जा रहा है। मैं नहीं समझता कि छात्रों को रट्टू तोते के समान 'राम-राम' रटाया जाना उपयुक्त समझा जा सकता है। यदि 'राम' जैसे पवित्र शब्द को—जिसे बड़े-बड़े दार्शनिकों ने मुक्ति के साधन के रूप में अपनाया है—रट कर भी तोता उपहास का पात्र बनता है तो उन छात्रों के बारे में क्या कहा जाय जो 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक के अक्षर रटने में ही सारी की सारी जिन्दगी बिता देते हैं। स्मरण रहे, महत्व रटने का नहीं है, महत्व है उस व्यक्ति का जो स्वज्ञान के बल पर ऐसे रहस्य का उद्घाटन करे जो अभी तक अज्ञात हो। मैं काफी योग्य समझे जाने वाले छात्रों के सम्पर्क में आया हूँ, किंतु लगता यह है कि उनके अंतर में कुछ अभिनव प्रस्तुत करने की आकांक्षा जगाई ही नहीं गई है। उनसे यदि कहा जाय—"कालिदास, तुलसीदास, शंकराचार्य बनने में स्व-प्रतिभा का उपयोग क्यों नहीं करते ?" तो उत्तर मिलता है, "साहब, आपने भी क्या बात कही है; मैं और कालिदास !" यदि यह बात विनम्रता के भाव से युक्त होती तो मुझे सौजन्य

की मूर्ति अपने देश के नवयुवकों पर गर्व होता, किंतु उनका कथन तो आत्मविश्वास के अभाव का परिचायक रहता है। कालिदास बनने की आकांक्षा और प्रेरणा रखते हुए भी कालिदास के प्रति श्रद्धा रखना ही सौजन्य का परिचायक समझा जा सकता है। परन्तु जहाँ प्रयास ही न हो, आकांक्षा ही न हो, प्रेरणा ही न हो ? इसी आधार-भूत मन स्थिति और वातावरण का परिणाम है कि आज कल की अपेक्षा प्रतिभावान् व्यक्तियों का अभाव अनुभव होने लगा है— मुझे ही नहीं, देश के कर्णधारों को, बड़े बड़े विद्वानों को भी।

बेचारे छात्रों को ही क्यों घसीटा जाय। व्यापारिक क्षेत्र मे भी स्थिति कोई अच्छी नहीं है। वही सफलता प्राप्ति के 'शार्ट कट्स' (सस्ते रास्ते) अपनाए जा रहे है। सट्टा, जुआ, लाटरी, घुड़दौड़ सभी तो एक दिन मे लखपती-करोड़पती बनने की योजनाएँ हैं ! लेकिन सभी जानते हैं, इन योजनाओं से भले ही एकाध का भाग्य खुल जाता हो, अन्यथा अधिकांश लोगो का धन —परिश्रम से कमाया हुआ धन—धीरे धीरे, देखते-देखते पराया हो जाता है। सभवत, अनुभव नहीं होता, क्योंकि धीरे धीरे जाता है, मगर जहा एकदम जाता है, तहलका मच जाता है। दिवाला निकलता है, घरबार बिकता है, समाज मे प्राप्त सम्मान लुट जाता है। फिर भी मालामाल होने के ये सस्ते रास्ते दिन दूने रात चौगुने पनप रहे हैं। चोरबाजारी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार भी इसी भावना के घातक परिणाम हैं।

● ● ●

राजनैतिक क्षेत्र की स्थिति भी अत्यंत दयनीय है। चार दिन के प्रचार पर लीडर बनने की कला वहां विकसित हो गई है। और स्पष्ट कहा जाय तो, मुझे लगता है, प्रचार उसी का किया जाता है जिसमे असलियत नहीं होती या कम होती है। आज काम के आधार पर नहीं, प्रचार के आधार पर नेता बनते हैं, यह बात समाजवादी नेता डा० राममनोहर लोहिया ने भी व्यक्त की है। प्रधानमन्त्री प० नेहरू भी आए दिन इसी प्रकार के विचार व्यक्त किया करते हैं। एक बार तो उन्होंने यहां तक कह डाला—"अन्य व्यवसायो की अपेक्षा राजनीति सबसे सस्ती है, क्योंकि औरों मे प्रशिक्षण की आवश्यकता है, परंतु उसमे प्रशिक्षण की कोई जरूरत नहीं।"

मुझे स्पष्टत दीख रहा है कि 'लीडर' बनने का एक और भी सुलभ उपाय विकसित हो रहा है और वह है गाली कला मे प्रवीणता। जिस सीमा पर पहुँचने से न्यायालय मान-हानि समझ लेता है, उससे बचकर गाली देने की कला का यदि आपने ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो बस थोडे ही दिनो मे जन-सम्राट् का पद आपके लिए सुरक्षित है! यदि आपने मानहानि के दावो की भी चिंता न करते हुए किसी पर किसी भी प्रकार का आरोप लगाने का साहस प्राप्त कर लिया तो आपसे बड़ा जननायक कोई नहीं हो सकता। ये है 'लीडर' बनने के कुछ सस्ते और कारगर नुस्खे, जिनका इफरात से इस्तेमाल किया जाता है। इसी का नतीजा है कि राजनैतिक क्षेत्र मे नेताओं की कचपच

मची हुई है जिसको सडायँध मे जनता का मस्तिष्क विकृत हुआ जा रहा है। यदि इस सडायँध को मिटाना चाहते हैं, तो मिटाएँ लीडरो के सस्ते नुस्खों को।

● ● ●

मेरी सिनेमा मे रुचि नहीं, और इसलिए अभिनेताओं के सम्बन्ध मे कुछ भी कहने का स्वय को अधिकारी नहीं मानता। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर किसी की टीका-टिप्पणी करना ठीक नहीं रहता। लेकिन मै तो एक दूसरी ही बात की ओर सकेत करना चाहता हूँ। जरा भगवान् ने सूरत दी, जरा गला साफ हुआ और चले अभिनेता बनने बबई की ओर! क्या इसलिए कि अभिनय-कला से प्रेम है? कभी नहीं। केवल इसलिए कि प्रसिद्धि-प्राप्ति का इससे सुगम मार्ग अन्य नहीं है। मैं भी मानता हूँ कि यह प्रसिद्धि-प्राप्ति का सुगमतम साधन है। राष्ट्रीय सग्राम के बडे-बडे नेताओं के चेहरों की चमक और उनके प्रति जनता का आकर्षण फीका पड जाता है अभिनेताओं की उपस्थिति मे। इससे अधिक क्या होगा कि नेताओं की प्रतिमाओं के स्थान पर अभिनेताओं की प्रतिमाएँ स्थापित किए जाने के प्रस्ताव किए जाय? मेरी भाषा कुछ लोगों को आवश्यकता से अधिक कटाक्षयुक्त लग सकती है, अतएव स्पष्ट कर दू कि मैं अभिनय को कला मानता हूँ, किंतु आत्माहुति की उस कला से नीची जिसे सीखकर व्यक्ति स्व-जीवन को तिल-तिल जलाकर ध्येय की वेदी को प्रकाशित करने मे समर्थ होता है।

साथ ही, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अभिनय अभिनय ही रहेगा, यथार्थता का स्थान वह कभी नहीं ले सकता। जो जीवन के रण-स्थल में विजय की ध्वजा फहराना चाहते हैं, वे अभिनय पर कभी विश्वास नहीं कर सकते। वे रण-बाँकुरे का अभिनय नहीं करते, स्वयं शौर्य की मूर्ति बनते हैं।

● ● ●

बहुत कहा—शायद इतना कहना नहीं चाहिए था। मगर लेखनी को लिखने का मर्ज है और इसलिए विश्राम लेते-लेते भी लिख जायगी—

सच्ची सफलता के प्रतीक हैं मानव के ललाट पर उभड़ने वाले श्रम-बिंदु जिनके ढुलकने के साथ-साथ सफलता भी साधक के चरणों में ढुलक पड़ती है। क्या देश के युवक इन श्रम-बिन्दुओं को अर्जित करने में नहीं जुटेंगे?

● ● ●

गुरु-शिष्य

गुरुपूर्णिमा का दिन था। अपने मित्र (अध्यापक) के घर निकल गया। मित्र महोदय मानो मुझे सुनाने को ही बैठे थे। छेड़ दिया 'टापिक' अध्यापकों के प्रति छात्रों का व्यवहार। काफी लम्बी दास्तान चली और उसके आखिर मे सुपरिचित शिकायत रही—वह जमाना गया जब भारत मे *गुरुओं की पूजा होती थी !*

मने भी कह कर टाल दिया—न वे गुरु रहे और न वे शिष्य !

मेरा कथन मित्र महोदय को कैसा लगा, कह नहीं सकता। पर हाँ, उस समय 'टापिक' लम्बा खिचने से जरूर रुक गया।

● ● ●

उस दिन के 'टापिक' की शृंखला मे जब आज सोचता हूँ, मेरा अन्तर व्यथित हो उठता है। आधुनिक

गुरु-शिष्यों की कैसी दयनीय दशा है ! गुरुओं को गालियाँ दी जाती हैं, मारने की धमकियाँ दी जाती हैं, मौका लगने पर मारा-पीटा भी जाता है, कभी-कभी जान से भी मार डाला जाता है। ये समस्त जघन्य कृत्य होते हैं शिष्यो द्वारा !!

क्यो ? निश्चय ही इसलिए कि गुरुओं मे शिष्यो के निर्माण का सामर्थ्य नहीं रहा। घडा सुघड नहीं बन पाता इसमे दोष मिट्टी का है या कुम्हार का ? मिट्टी की अपेक्षा कहीं अधिक कुम्हार का !

एक समय था जब गुरु शिष्य को ज्ञान देते थे, हृदय का स्नेह देते थे, यहाँ तक कि सर्वस्व दे डालते थे। यथार्थ मे, वे शिष्य के जीवन-निर्माण के लिए स्वय को खपा डालते थे।

और आज क्या देते हैं गुरु अपने शिष्यों को ? दस से लेकर चार तक का समय—और यदि उसमे से भी बचाया जा सके तो बहुत अच्छा ! इस ६ घटे के समय मे सिखाया क्या जाता है ? काले अक्षरों का लिखना पढना और उस लिखे-पढ़े के सहारे गुलामी की जिन्दगी बिताने की कला !! न कोई यथार्थ ज्ञान, न कोई प्रतिभा, न भविष्य का कोई सुस्पष्ट चित्र !!!

विद्यालयों मे पाषाण आते हैं, पाषाण ही निकलते हैं और रुलते-रुलते 'काम दिलाऊ दफ्तरों' के दरवाजो तक ठोकरें खाने के लिए पहुँच जाते हैं ! विचार किया जाय, जो आदमी भी नहीं बना है, जिसे 'खाने-पीने' से ऊपर उठा कर मनुष्य भी नहीं बनाया गया है—वह किसका सम्मान करे, कैसे करे, क्यो करे ?

आज का अध्यापक—जिसे गुरु कहना 'गुरु' शब्द का भी अपमान करना है—चांदी के टुकड़ों का दास है, प्रबंध समितियों का घाटुकार है, और है चांदी के टुकड़ों के सहारे चलने वाले दास-निर्माता-महायंत्र का एक पुर्जा! दास को दास के प्रति श्रद्धा, सम्मान और समर्पण का भाव रखते कभी देखा गया है? हाँ, जब कभी इस दासता के जंजाल में कोई आदमी आ जाता है, आदमियों का निर्माण कर देता है और आदमियों के शीश आदमी के चरणों पर झुक जाते हैं। आदमी का सिर झुकाने के लिए आदमी चाहिए—हाड़-मांस या शक्ल-सूरत के नहीं; मन, बुद्धि और आत्मा के!

मुझे यह समस्त स्थिति देखकर वेदना होती है, किंतु इससे भी अधिक वेदना होती है उस समय जबकि मैं आए दिन अध्यापकों की लीलाओं को देखता हूँ, उनके चरित्र से सम्बन्धित चर्चाओं को सुनता हूँ! वे लीलाएँ और चर्चाएँ छात्रों को कौन-सी प्रेरणा दे सकती हैं? इसके अलावा कोई नहीं कि वे वीणावादिनी के देवालय में मदन-सर संधाने एक दूसरे के ग्राहक बने घूमते रहें—यहाँ तक कि प्राणों के ग्राहक बने भी।

● ● ●

परन्तु गुरुओं की इस दशा का सहारा लेकर शिष्य अपने कर्त्तव्य से मुक्त नहीं हो सकते! अपने पतन के लिए किसी दूसरे के पतन का सहारा लेना, शायद, चातुर्य की सीमा में आ सकता हो, किंतु उससे आत्म-अकल्याण के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

बस, शिष्य के दो महान् अवलम्ब हैं–श्रद्धा और विश्वास ! श्रद्धा और विश्वास में वह महाशक्ति है जो पाषाण की मूर्ति से भी ज्ञान-रश्मियाँ नि:सृत करा देती है ! लेकिन आश्चर्य है– दुनिया के समस्त आश्चर्यों से बड़ा—कि आज का शिष्य सजीव प्राणी से भी ज्ञान अर्जित नहीं कर पाता ! विस्मृत न हो कि ज्ञान पर-प्रदत्त होने की अपेक्षा स्व-अर्जित अधिक होता है। इतिहास के पृष्ठ भी इसके साक्षी हैं। द्रोण के शिष्य बहुत से थे, परन्तु अर्जुन एक था ; रामकृष्ण परमहंस के शिष्य अनेक थे, पर नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) एक था। पारस के सम्पर्क से सोना बनने के लिए भी लोहा चाहिए ; लकड़ी का टुकड़ा या मिट्टी का ढेला सोना नहीं बन सकता ! श्रद्धा और विश्वास से शून्य अन्त:करण मे ज्ञान का दीप नहीं जल सकता ; अश्रद्धा और अविश्वास के झोंके उसे जलने से पहले ही बुझा डालते हैं।

● ● ●

नैतिकता की ओर

विश्वविद्यालय के एक छात्र ने मुझसे शिकायत की कि विश्वविद्यालयों में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को 'प्रीफरेंस' (प्रामुख्य) दिया जाता है।

मैंने सरल भाव से उत्तर दिया, "इसमें आपत्ति की क्या बात है? अपने सभी ग्रंथों में महिलाओं के प्रति आदर व्यक्त करने की बात कही गई है। मनुस्मृति ने तो स्पष्ट निर्देश किया है कि महिलाओं के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए।"

"यदि इस भाव से विश्वविद्यालय की छात्राओं के प्रति सम्मान व्यक्त किया जाता तो कोई शिकायत न होती। किन्तु वहाँ किसी और ही आधार पर उन्हें प्रमुखता प्रदान की जाती है।"

उत्तर सुनकर मैं चुप हो गया।

● ● ●

समय-समय पर मेरे मस्तिष्क मे "किसी और आधार पर" को बात चक्कर काटती रहती है। आखिर यह कौन-सा आधार है? यह आधार जो भी हो, उसकी चर्चा परीक्षा-फल निकलते समय भी सुनी जाती है। लडको और यहां तक कि प्राध्यापकों को भी चर्चा करते सुना जाता है—"वह लडकी थी, उसका प्रथम आना सुनिश्चित था।"

प्रश्न है, क्या योग्यता के कारण? यदि योग्यता का प्रश्न होता तो चर्चा ही न होती।

इन सब बातो की पृष्ठ-भूमि मे जो कारण काम कर रहा है, उसे न कहते हुए भी सब जानते है, मौन रूप मे स्वीकार करते है। प्रश्न यह है कि इस 'कारण' से प्रेरित शिक्षा-क्षेत्र किस ओर को अग्रसर हो रहा है? क्या यह 'कारण' छात्रो और अध्यापको के बीच एक चौडी खाई निर्माण करने मे सहायक सिद्ध नहीं हो रहा? क्या इस 'कारण' का नाम लेकर अध्यापको की उस कमजोरी की ओर संकेत नहीं किया जाता—जिसे स्वभावजन्य कह कर समय-समय पर टाल दिया जाता है?

स्मरण रहे, उस अध्यापक के प्रति छात्र के अन्तःकरण मे सम्मान और श्रद्धा का भाव कभी निर्माण नहीं हो सकता जिसकी प्रामाणिकता और निष्पक्षता के सम्बन्ध मे एक बार भी सदेह उत्पन्न हो जाय। दुर्योधन के मन मे यह भाव निर्माण हो जाने का परिणाम कि गुरु द्रोणाचार्य पाण्डवों को अधिक चाहते है, कितना भयकर हुआ, इससे सभी लोग परिचित है। भले ही

दुर्योधन के मन मे कटुता की चरमावस्था का निर्माण हुआ हो किन्तु आज विद्वेष की ज्वाला से दग्ध 'छोटे छोटे दुर्योधनों' का निर्माण विश्वविद्यालयों में नहीं होता, यह कहना सत्य की हत्या करना होगा।

छात्र अपनी योग्यता बढ़ा सकता है। किन्तु यदि उसकी योग्यता का पर्याप्त मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं हो पाता कि प्रकृति ने उसे योनि विशेष प्रदान की है, तो या तो उसके मन में प्रकृति के प्रति विद्रोह उत्पन्न होगा या अध्यापकों के प्रति। प्रकृति को पाया नहीं जा सकता, इसलिए अध्यापक ही क्रोधानल के हविष्य बनते हैं। और यदि स्थिति इस सीमा तक न भी पहुँचो तो भी अध्यापक छात्रों के उपहास और घृणा के पात्र अवश्य बन जाते हैं।

सह-शिक्षा का, अनेक कारणों से, विरोधी होते हुए भी, मैं इस समस्या को उसके माथे मढ़ कर ही सतोष कर लेना नहीं चाहता। मेरा हृदय कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि भीष्म और हनुमान के देश के अनुभवयुक्त अध्यापक नैतिकता का उच्च आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकते। आवश्यकता इस बात की है कि नैतिकता का आदर्श प्रस्तुत न करने वाले अध्यापकों को शिक्षा सस्थाओं से अलग किया जाय और यदि प्रबंधक उन्हें अलग करने म आनाकानी करें तो अध्यापक-वग उनका स्वत बहिष्कार कर दे।

• • •

क्या कपड़े ही सब कुछ है ?

मैं उस समय एम० ए० का छात्र था। अध्ययन चालू रखने के लिए काम-काज की तलाश में था। 'काम-दिलाऊ-दफ्तर' के चक्कर लगाना भी स्वाभाविक था। काम की तलाश मे था, इसलिए सुन्दर वेश-भूषा की कल्पना तो किसी को करनी नहीं चाहिए थी। फिर, हर व्यक्ति की अपनी प्रकृति भी तो होती है। जरूरी भी क्या है कि व्यक्ति ऊपरी बनाव-सँवार मे ही लगा रहे ?

जब 'काम-दिलाऊ-दफ्तर' से घर और घर से 'काम-दिलाऊ-दफ्तर' के चक्कर लगाते हुए अर्ध-मास की सीमा पार हो गई, मैंने दफ्तर के प्रमुख अधिकारी की शरण मे जाने का विचार किया।

पर्चो लिखकर दी चपरासी को, क्योंकि बिना इसके तो अधिकारी महोदय के निकट तक पहुँचना भी सम्भव नहीं था। ठीक चार घंटे की लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा

करने के पश्चात् जब बुलावा आया, स्वयं को धन्य अनुभव करता हुआ अधिकारी जी के कमरे में प्रविष्ट हुआ।

अधिकारी ने बड़े गौर से, नख से शिख तक यहूँ या शिख से नख तक, देखा। मैं समझा, शायद, कोई अनुकम्पा होने वाली है। मगर उनके प्रश्न ने मेरे भ्रम को दूर कर दिया। उनका प्रश्न था—"आपको किसने बुलाया?"

"आया तो बिना बुलाए हूँ, श्रीमान्! मगर मुझसे कम गलती आपके चपरासी की नहीं है।"

अधिकारी ने तुनक कर कहा, "बेकार में आप लोग हमें परेशान किया करते हैं। सुबह से शाम........."

अब मुझ में अधिक सुनने के लिए धैर्य नहीं बचा था। मैंने भी तीखा उत्तर पेश किया, "जी हाँ, जो समय की बरबादी श्रीमान् की होती है, उसके लिए श्रीमान् को पाई-पाई मिलती है, मगर श्रीमान् के कारण हम लोगों के समय की जो बरबादी होती है, उसके भुगतान के लिए न कोई अफसर है और न कोई दफ्तर!"

अधिकारी का अगला प्रश्न था—"आप क्या करते हैं?"

मेरा समाधान था—"कुछ करता होता, तो श्रीमान् की सेवा में दरख्वास्त क्यों करता? हाँ, वैसे समय काटने के लिए एम० ए० फाइनल में एडमीशन (प्रवेश) अवश्य ले रखा है।"

अधिकारी के रुख में परिवर्तन आया। सामने पड़ी कुरसी की ओर इशारा करते हुए बैठने का निर्देश किया। तत्पश्चात् काफी देर तक बातचीत चलती रही। मेरा मुख्य अभिप्राय 'रजिस्ट्रेशन'

ा था; उन्होंने तुरन्त सम्बंधित क्लर्क को बुला कर मेरा नाम रजिस्टर्ड करा दिया।

मुझे लगा, अधिकारी काफी सहृदय थे। पूर्व व्यवहार के लिए उनका स्वभाव नहीं, मेरी सीधी-सादी वेश-भूषा ही अधिक उत्तरदायी थी।

• • •

घटना तो घटित हो गई, मगर हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ गई। और उस प्रभाव मे ऐसी सूक्तियों ने न जाने कितनी बढ़ोतरी की है–'आज की दुनिया मे सीधे-सादे ढंग से काम नहीं चल सकता।'

क्या सादगी कोई पाप है ? क्या सादगी कोई अभिशाप है ?

इससे बड़ा दुर्भाग्य नहीं हो सकता कि लँगोटी लगाकर ज्ञान की साधना करने वाले ऋषि-मुनियों के देश, भारत, में सादगी की उपेक्षा हो, सरलता का उपहास हो !

सादगी के प्रति इस उपहास-वृत्ति का ही परिणाम है कि हम तन से भी अधिक लत्तों को महत्व देते हैं, घर में भाड़ भूँज कर भी बाहर शाह बनने की कोशिश करते रहते हैं; गरमी से अकुलाते रहें, मगर कोट-पेंट से लदे रहते हैं, आँखें सही-सलामत हों मगर चश्मा चढ़ाये रहते हैं; समीप बैठने वाले का दम भले ही घुटता रहे, मगर कृत्रिम सुगंध से युक्त क्रीम थोपे रहते हैं ! मानो प्रकृति हमसे कोसों दूर होती जा रही है; हमको प्रकृति से कोई सरोकार नहीं है और प्रकृति का हमारी वृत्ति से कोई सम्बध नहीं है !!

रहे और फिर तुरन्त उन्होंने ३१ को काट कर २१ कर दिया पुस्तिका में अन्दर भी अंक सुधार दिए गए।

३१ अंक पाने वाले परीक्षार्थी के केवल २१ अंक रह गए

यह एक ऐसी घटना है जो स्पष्टत दर्शाती है कि छात्रों जीवन के साथ किस प्रकार खिलवाड़ होती है, किस प्रका अपने दोषों को छिपाने के लिए अध्यापकों द्वारा उन्हें छात्रों सिर मढ़ा जाता है! एक परीक्षक द्वारा परीक्षित पुस्तिका क पुन परीक्षण नहीं हो सकता, इस नियम के कारण इस प्रका की ज्यादतियों के लिए और भी स्थान रहता है।

परीक्षा मे सफलता प्राप्त करने के लिए छात्रों द्वारा जो अनुचित और अप्रामाणिक उपाय अंगीकार किए जाते हैं, उनकी तो सदा आलोचना होती है, होनी भी चाहिए, किंतु परीक्षकों द्वारा द्वेषवश अथवा स्नेहपात्र शिष्य को 'पोजीशन' देने के लिए जो अनियमितताएँ बरती जाती हैं, उनको रोकने का, सम्भवत', अब तक कोई उपाय नहीं खोजा जा सका है!

जो भी हो, यह अवस्था अत्यंत चिंताजनक और हृदय-विदारक है! और इससे भी अधिक चिंताजनक और हृदय-विदारक स्थिति यह होती है जबकि सम्बंधित कालेजों का परीक्षा-फल अच्छा रखने के लिए और प्रतिद्वंद्वी कालेजों का परीक्षा-फल खराब करने के लिए परीक्षकों द्वारा योजनाबद्ध प्रयास किए जाते हैं।

वेश-भूषा

कुछ दिन पूर्व की बात है। एक चित्र देखने को मिला। चित्र विदेश का था। सभ्रान्त भारतीय नागरिक का विदेशी नागरिकों द्वारा स्वागत किया जा रहा था। कुछ प्रवासी भारतीय भी उस समारोह में उपस्थित थे।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जिन भारतीयों को किसी समय विदेशी कुत्तों की समता में रखते थे, उनको आज उनकी अभ्यर्थना करनी पड़ती है।

यह प्रसन्नता कुछ क्षण भी स्थायी नहीं रह पाई क्योंकि दृष्टि उन भारतीय सभ्रान्त नागरिक के चित्र पर पड़ गई, जिनका स्वागत किया जा रहा था। वे कोट पैंट पहने हुए थे और ऊपर से टाई भी लगी हुई थी। पूरे चित्र में मैंने दूसरे ऐसे सज्जन का चित्र खोजने का प्रयास किया जो पैंट-कोट पहने हों, टाई लगाए हों। किंतु मुझे अन्य कोई ऐसे सज्जन दृष्टिगोचर नहीं हुए।

क्या हमने कभी सोचा है कि कृत्रिम साधन अपना कर जो बनाव-सँवार हम करते हैं, उसमें कितने धन का अपव्यय होता है ? क्या हमने कभी सोचा है कि उस धन के सहारे कुछ ऐसे गरीबों का भला हो सकता है, जिनके पास तन ढकने को चिथड़ा और पेट की आग बुझाने को अन्न के दो दाने भी नहीं हैं !

जो जीवन हमारे लिए भार है और दूसरों के लिए अभिशाप उसे त्याग कर क्या हम सादगी के उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने का प्रयास नहीं कर सकते, सादगी का आदर करना नहीं सीख सकते ?

• • •

ये कैसे परीक्षक ?

एक अध्यापक हैं। उनसे मेरा सम्बन्ध घनिष्ठ है। हर वर्ष ही वह किसी न किसी परीक्षा के परीक्षक रहते हैं। उस वर्ष भी वह इंटरमीडिएट के परीक्षक थे।

उत्तर-पुस्तिकाओं का परीक्षण कर उन्होंने प्राप्तांक-सूची उप-प्रधान परीक्षक के पास भेज दी। बाद में जब उन्होंने अपने पास रह गई प्राप्तांक-सूची से उत्तर-पुस्तिकाओं पर अंकित अंकों को मिलाया, ज्ञात हुआ कि एक पुस्तिकामें ३१ अंक अंकित हैं, जबकि सूची में गलती से वे २१ चढ गए हैं।

अब क्या किया जाय ? उप-प्रधान परीक्षक को सूचित किया जाय, तो खरी-खोटी सुननी पड़ेगी। हो सकता है वह बोर्ड को सूचित कर दें और भविष्य में उन्हें परीक्षक ही न नियुक्त किया जाय !

कुछ संकिण्ड सिर पर हाथ रखकर विचार करते

विदेशी भारतीय जीवन-पद्धति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि ऐसे अवसरों पर भी भारतीय नागरिक विदेशी वेश-भूषा और विदेशी आचार-पद्धति से स्वयं को विभूषित करते रहें तो विदेशी यही समझेंगे कि भारतीयों की न तो अपनी कोई संस्कृति है और न कोई समाज-व्यवस्था ! भारत माता का कोई भी पुत्र क्या इसे सहन कर सकेगा ?

● ● ●

हृदय को एक धक्का-सा लगा। आखिर भारत से आने वाला भारतीय ही क्यों कोट-पेंट में? क्या दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों को अपने सम्मान का ध्यान नहीं? क्या पेंट-कोट तथा टाई के अभाव में भी वे अपना सम्मान सुरक्षित समझते हैं?

वास्तव में तो बात ऐसी है कि वे स्वदेशी वेश-भूषा के अतिरिक्त अन्य किसी देश की वेश-भूषा धारण करना अपना अपमान समझते हैं।

गुलामी के दिनों में भले ही हम अपने गले में 'फन्दा' बांध कर स्वयं को 'सभ्य' सिद्ध करने का प्रयास करते रहे हों, किन्तु आज जब कि हम स्वतन्त्र हो गये हैं, दूसरों की जीवन-प्रणाली अपनाने की हमें क्या आवश्यकता? हमें अपनी रीति-नीतियों से प्रेम करना चाहिए, उनको ही अपनाने में हमें गर्व का अनुभव

विदेशी भारतीय जीवन-पद्धति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि ऐसे अवसरों पर भी भारतीय नागरिक विदेशी वेश-भूषा और विदेशी आचार-पद्धति से स्वयं को विभूषित करते रहें तो विदेशी यही समझेंगे कि भारतीयों की न तो अपनी कोई संस्कृति है और न कोई समाज-व्यवस्था! भारत माता का कोई भी पुत्र क्या इसे सहन कर सकेगा?

• • •

राखी बँधवा कर जैसे ही चला, एक वृद्धा ने हाथ बढा दिया। हाथ मे उसके भी राखी थी और आँखों मे किंचित् प्राप्ति की लालसा। मैंने बिना किसी आपत्ति के राखी बंधवा ली और एक चवन्नी उसकी ओर बढा दी। उसने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और साथ मे अनेक आशिष भी दिए—यह इसलिए कि सम्भवतः यह इससे अधिक अपना अधिकार नहीं समझती थी।

• • •

घर आकर जब मैंने अपने हाथ मे—एक ही हाथ में दोनों राखियों को देखा, भीषण अन्तर्द्वंद्व प्रारम्भ हो गया। एक की कीमत पांच रुपए और दूसरे की चार आने! यह भारी विषमता क्यों? एक से बार-बार मना करने पर भी उसे पांच रुपए क्यो और दूसरे को, उसकी आँखो मे लालसा की झलक होते हुए भी, चार आने ही क्यो? क्या आवश्यकता के मापदण्ड के अनुसार? आवश्यकता निश्चय ही वृद्धा को अधिक थी; इतना ही क्यों, आवश्यकता वृद्धा को ही थी।

तो क्या राखी की बँधवाई देते समय मेरे मन मे दम्भ था, प्रदर्शन की भावना थी, लोकाचार को लकीर पीटने और लकीर पीटने मे अपनी पूर्ण सिद्धता दर्शाने की आकांक्षा थी?

इस प्रश्न का उत्तर जब मेरे अन्तर की अन्तिम तह से निकला, मेरा मस्तक लज्जा से झुक गया, ग्लानि की कालिमा ने मेरे मनोभावों को आ घेरा। मेरा हृदय पुकार-पुकार कर कहने लगा—तू दम्भी है, पाखण्डी है, धोखा देता है।

मेरा खयाल है, इस प्रकार का मैं अकेला ही नहीं हूँ। आडम्बरपूर्ण व्यवहार रखने वालों की संख्या कम नहीं है।

हम त्याग करते हैं वहाँ जहाँ उसकी कतई जरूरत नहीं है, हम वैराग्य दिखाते हैं वहाँ जहाँ हमें कुछ मिलने वाला नहीं है; हम दया दिखाते हैं उनके प्रति जिनका हमारी क्रूरता से कुछ बिगड़ने वाला नहीं है; हम दान देते हैं उन्हें जो हमारे दान के पात्र नहीं हैं; हम सहृदयता प्रदर्शित करते हैं उनके प्रति जो हमारी निष्ठुरता को चुनौती देने का सामर्थ्य रखते हैं।

अन्यथा, न हम त्यागी हैं, न विरागी हैं; दया और दान से हमारा कोई दूर का भी सम्बंध नहीं है; सहृदयता हमारे पास भी फटकती नहीं है।

हम किसको धोखा दे रहे हैं? सम्भवत — नहीं नहीं निश्चय ही — स्वयं को! न समझें कि दुनिया हमारी वृत्तियों से परिचित नहीं है। लोकाचार के वश भले ही लोग हमारे मुंह पर कुछ न कहते हों, मगर जब मौका मिलता है, जब पीठ-पीछा होता है, वे जी भर कर हमारा उपहास करते हैं, हमारे ढोंग की निंदा करते हैं और कहाँ तक कहा जाता है, कोसने में भी कमी नहीं रखते।

और फिर, क्या हमारा हृदय स्वयं हमको इस ढोंग के लिए नहीं धिक्कारता?

क्यों नहीं हम लोक निंदा की चिंता करते, क्यों नहीं हम निज हृदय की पुकार को सुनते?

● ● ●

फौजी बैंड और बारात

"तुत्'''तुतुत्'''तुतुत्'''त्" बैंड की आवाज आ रही थी। मेरे कदम स्वयं वाम-दक्षिण, वाम-दक्षिण के क्रम से उठने लगे। बैंड की मधुर ध्वनि इतनी आकर्षक थी कि बैंड को देखने का मोह उत्पन्न हो ही गया। समझ रहा था कि शायद आज सेना का पथ-संचलन हो रहा हो। किंतु कुछ आगे बढ़ा तो दिखाई दिया कि हंडों के साथ बारात चली आ रही है। आगे-आगे बैंड था। पूछने पर पता चला कि बैंड सैनिक ही है।

बारात के समीप ही एक परिचित सज्जन मिल गए। उनसे मैं पूछ ही बैठा—"क्यों मित्र! क्या किसी सैनिक अधिकारी का विवाह है?"

उन्होंने शान्त भाव से उत्तर दिया, "नहीं।" कुछ देर शान्त रहे, फिर न जाने क्यों पूछ बैठे—"क्यों, आपको सैनिक अधिकारी की बात समझ में कैसे आई?"

"बेंड देखकर!"

"इसमें क्या नई बात है? अरे भाई, पर्याप्त पैसे देकर कोई भी सैनिक बैंड बुला सकता है?"

मेरे मुंह से अनायास निकल पड़ा, "पैसे देकर सैनिक बैंड!"

"मेरी समझ में नहीं आ रहा कि आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है? भाई, दुनिया भर के बैंड पैसे देकर बुलाए जा सकते हैं तो फिर इसमें ही कौन-सी बात है?"

मैंने किसी प्रकार बात को उस समय टाल दिया, क्योंकि उस समय बात बढ़ाना उचित नहीं समझा। किंतु आज इन पंक्तियों में अपनी शंका अवश्य उपस्थित करता हूँ।

• • •

सैनिक बैंड किस लिए होता है? सैनिक बैंड कहाँ बजना चाहिए? सैनिकों में हम कौन-सी भावना उत्पन्न करना चाहते हैं? ये प्रश्न हैं जिन पर मेरी आशंकाएँ आधारित हैं।

जहाँ तक मैं समझता हूँ सैनिक बैंड का उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा के लिए सर्वस्व होम करने वाले वीर सैनिकों की हृत्तंत्री को झंकृत करना होता है। और इसलिए उसका प्रयोग ऐसे ही स्थान पर होना चाहिए जहाँ उसके स्वरों को प्रतिध्वनित करने वाले हृदय उपस्थित हों। कहीं भी शोभा के लिए सैनिक बैंड का प्रयोग करना वीर-भाव का उपहास करना है। सैनिक गान और सैनिक वाद्य रणचण्डी का *आह्वान करने के लिए होते हैं।* यदि उनका प्रयोग शृंगार से सम्बद्ध अवसरों पर किया जाने

लगा तो शृंगार और वीर रस एक कोटि मे आ जायंगे, जो कम से कम सैनिकों की दृष्टि से कभी भी उपयुक्त नहीं समझा जा सकता।

इसके अतिरिक्त, सबसे बडी बात यह है कि सैनिकों मे स्वाभिमान का भाव जाग्रत होना चाहिए, पैसे का प्रलोभन या दासता का भाव नहीं। सैनिको मे इस भाव के जागरण की आवश्यकता है कि—हम राष्ट्र के सैनिक है, किसी के गुलाम नहीं, पैसे के लिए युद्ध नहीं करते वरन् राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाते हैं, हमारे शस्त्रास्त्र राष्ट्र की रक्षा के लिए ही उठ सकते हैं, हमारे मुख से गान भारत माता की जय के ही निकल सकते हैं।

किंतु इस भाव का जागरण उस अवस्था मे कभी नहीं हो सकता जब कि उन्हे पैसा पैदा करने का साधन बनाया जाय। सैनिकों को बारातों मे बैंड बजाने के लिए भेजा जाना क्या इस बात का सकेत नहीं करता कि उन्हे पैसे पैदा करने का साधन बनाया जा रहा है? अत मेरा विचार है कि इस निकृष्ट पद्धति को बन्द किया जाना चाहिए। शादी-बारातो पर बाजे बजाने का काम चारण-भाटो या तासेबाजो का है। सैनिको से यह काम लेना उनको पतित करना है।

साथ-साथ एक बात यह भी है कि इस प्रकार के प्रयोग के कारण सैनिको की चुस्ती मे कमी आती है। बारातों मे ध्वनि करते समय क्या वे इतनी ही सतर्कता रख सकते हैं, जितनी सैनिक परेड के समय रख पाते है?

हैं, इस देश मे। जमीन पर बैठ कर खाओ। फ्रोज विगड जाए पेंट की। और कहीं कुल्हड़ों पर मिट्टी लगी हैं, तो कहीं पत्तल पर गर्द जमी हैं।"

"अरे यार! 'मॉडर्न' (आधुनिक) व्यवस्था मे इकानामी (बचत) भी तो कितनी है। खाया-पिया और 'डिशेज' (तश्तरियां) फिर साफ।"

"मित्र! सबसे बड़ी बात तो डीसैंसी (सुसभ्यता) की है।"

सम्पूर्ण वार्तालाप में शान्तिपूर्वक सुनता रहा। व्यर्थ मे किसी के आपसी वार्तालाप मे दखल देना सभ्यता तथा सौजन्यता के अनुकूल न समझा। किन्तु फिर भी मस्तिष्क मे विचारों की उथल-पुथल तो चलती ही रही। आज प्रस्तुत पंक्तियों मे उसे ही प्रकट करने का प्रयास करूंगा।

• • •

मैंने काफी विचार करने का प्रयास किया है और अपने कई अनुभवी मित्रो से परामर्श भी किया है। घुले हुए ढाक के पत्तों से बनी हुई पत्तल अथवा दोने, मिट्टी के कुल्हड अथवा सकोरों से अधिक शुद्ध-पवित्र (स्वास्थ्य की दृष्टि से) अन्य कोई पात्र नहीं हो सकते। चीनी की तश्तरियाँ अथवा कांच के गिलास जिन्हें खाली पानी से धोने पर ही स्वच्छ समझ लिया जाता है, वास्तव मे स्वच्छ नहीं हो पाते। अनेक योग्य चिकित्सकों का कहना है कि उनमे रोगों के कीटाणु लगे रहते हैं, और जब तक उन्हें पोटेशियम परमेंगनेट और साबुन से धोया नहीं जाता, कीटाणु दूर नहीं होते।

कितने ऐसे होटल अथवा परिवार हैं, जिनमे प्लेटस और गिलास इस प्रकार साफ किये जाते हैं ? परिणाम यह है कि ससर्ग- दोष के कारण लोगों मे अनेक रोगो का प्रसार होता है। ऐसी स्थिति मे पत्तल और कुल्हड की प्राचीन प्रथा अपना कर क्या हम सामूहिक रोग प्रसारण की व्याधि से बच नहीं सकते ?

अब रही बात बचत की। तश्तरियों तथा गिलासो के किराये मे ही जितना धन व्यय हो जाता है—किसी शादी मे—उतना व्यय भी पत्तल और कुल्हडों पर नहीं होता। इसके अतिरिक्त सबसे बडी बात है समता की। भारतीय पद्धति मे चाहे राजा हो या रक, सभी पत्तल और कुल्हड मे ही दावत देते हैं। राजा सोने की थालियो मे नहीं खिलाता और गरीब को निकृष्ट कोटि के बरतनों मे भोजन खिलाने को बाध्य नहीं होना पडता। सभी को कुल्हड और पत्तल का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार कम से कम गरीबो की इज्जत—ऐसे समय जब कि प्रत्येक को अपनी इज्जत का खयाल होता है—बची रहती है। गरीब से गरीब बडे से बडे व्यक्ति को आमन्त्रित करके पत्तल और कुल्हड मे भोजन करा सकता है। भोजन करने वाला भी सोने के बरतनो की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि उसे पता है कि हमारी प्रथा क्या है। ऐसी स्थिति में तश्तरियो और कांच के गिलासों की प्रथा—केवल नयी सम्यता की नकल करने के जोश मे—समाज में प्रविष्ट करना क्या ऐसी नवीन असमानता को जन्म देना नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप समस्त समाज मे एक नवीन ईर्ष्या

मेरा यही विचार उन सैनिकों के बारे में भी है जिनसे 'श्रमदान' या 'योजना' के नाम पर काम लिया जाता है। सैनिकों का काम व्यवस्थित सैन्य-संगठन है। इसके अतिरिक्त उनको किसी भी काम में लगाया जाना उनके मस्तिष्क को उनके वास्तविक-कार्य से दूर हटाना है। इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित न होगा कि हजार कामों में लगा हुआ मस्तिष्क दक्षता प्राप्त नहीं कर सकता। गड्ढे खोदने के लिए या बाँध बाँधने के लिए मजदूर काफी हैं। सैनिकों को मजदूर न बनाया जाय। उनके लिए एक ही कार्य काफी है और वह है राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से विचार करना और स्वयं को हर अवस्था में उसके लिए सन्नद्ध रखना।

● ● ●

पत्तल बनाम तश्तरी

एक बार एक परिचित के यहाँ सहभोज का कार्यक्रम था। ठीक समय पर उपस्थित हुआ। देखा कि मेज कुरसी लगी हुई हैं और प्रत्येक मेज पर प्लेटो मे पकवान आदि सजे हुए हैं। चुपचाप एक कुरसी पर बैठ गया। समीप ही कुछ भद्र पुरुप और भी बैठे हुए थे। उनकी बात-चीत से लगता था कि वे सब आपस मे मित्र थे। उनकी बात-चीत इतनी रोचक लगी कि मैं आज भी उसे भूल नहीं सका हूँ।

एक महानुभाव बोले, "यार ! जब तक 'फीस्ट' (दावत) का ऐसा प्रबन्ध न हो, खाने मे आनन्द नहीं आता।"

"यार ! मैं तो ऐसी ही जगह जाना पसद करता हूँ, जहाँ ऐसी सुव्यवस्था हो।"

"कुल्हड़ों और पत्तलों की भी क्या अजीब व्यवस्था

तथा द्वेष की अग्नि का सचार होगा, सामाजिक सघर्ष को जन्म मिलेगा ?

इसके अतिरिक्त, एक बात कहना और आवश्यक प्रतीत होता है। सहभोज मे भोजन-वितरण की व्यवस्था नौकरों द्वारा करायी जाती है। क्या यह उपयुक्त है ?

इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए सहभोज का उद्देश्य समझना होगा। सब के घरों पर पर्याप्त भोजन है। कोई खाने का भूखा नहीं है। वह प्रेम की आकाक्षा लेकर सहभोज मे उपस्थित होता है। किन्तु, क्या नौकर या होटलों के 'बैरे' उसे प्रेम प्रदान कर सकते है ?

तथाकथित बड़े लोगों मे बैरों की व्यवस्था करने की प्रथा इस कारण बढ़ती जा रही है कि वे न तो किसी के शादी-ब्याह मे सहयोग प्रदान करना चाहते है और न किसी से इस सम्बन्ध मे याचना करना चाहते हैं। वे पैसे के बल पर सब प्रश्न हल कर लेना चाहते हैं। किन्तु जरा परिणाम पर विचार करें। अमीर तो पैसे देकर बैरों का प्रबन्ध कर लेंगे, किन्तु गरीब का क्या होगा ? क्या ऐसी स्थिति मे आपसी सहयोग के आधार पर दावतो का आयोजन किया जाना ही उपयुक्त नहीं ?

किन्तु एक दूसरे की देखादेखी तथा दूसरे से स्वय को अधिक मालदार प्रदर्शित करने की होड मे समाज मे यह बैरा रोग घुसता जा रहा है। इसे रोकना प्रत्येक भारतीय का परम कर्तव्य है। यह तभी रुक सकता है जब हम निश्चय करें कि हम प्रेम की

आकांक्षा लेकर सहभोज मे सम्मिलित होंगे और यदि वहा घर वालो और उनके सम्बन्धियो के स्थान पर बैरो द्वारा भोजन-वितरण की व्यवस्था की जाती है तो भोजन बिना करे ही वापस चले आयगे। एक-दो स्थानो पर भी ऐसा हुआ, तो समाज को उचित दिशा प्राप्त हो जायगी।

● ● ●

विवाह है या 'सौदेबाजी' ?

जिनको मैं चर्चा कर रहा हूँ, वह आजकल एक उच्च सरकारी पद पर अधिष्ठित हैं। यह उस समय की चर्चा है जबकि उन्होंने लोकसेवा आयोग की परीक्षा उत्तीर्ण की ही थी। अविवाहित थे उस समय तक, इसलिए हर दिन ही कोई न कोई 'देखने वाला' हाजिर रहता उनके दरे-दौलत पर। कभी लड़की पसंद नहीं थी, तो कभी दहेज नहीं था मनचाहा।

आखिर 'सौदा' तय हुआ। सौदा इसलिए कहता हूँ कि आज 'विवाह' के नाम पर जो कुछ होता है उसे लड़की के सौंदर्य का सौदा कहा जा सकता है, रुपये-पैसे का सौदा माना जा सकता है—उसे 'विवाह' की संज्ञा दिया जाना, 'विवाह' जैसे परम पवित्र शब्द का और उसके पीछे विद्यमान पावन भाव का उपहास ही होगा।

सौदा तय हो गया। मगर अभी फरमाइश एक

बाकी थी लडकी के बाप से, भावी श्वशुर से। क्या थी फरमाइश? बारात के भोजन का प्रबन्ध 'कार्टन होटल' मे होना चाहिए।

लडकी के बाप ने तो स्वीकार कर लिया, किन्तु पिता ने समझाया, "अनेक रिश्तेदार ऐसे होंगे जो होटल मे भोजन करना पसद नहीं करेंगे।"

"अगर ऐसे कुछ 'बैकवर्ड' (पिछडे) लोग हैं तो उनके लिए घर पर प्रबन्ध कर दिया जाय, मगर मेरे जितने परिचित लोग हैं, उनका प्रबध होटल मे ही होना चाहिए।"

पुत्र का उत्तर सुन कर पिता स्तब्ध रह गए।

● ● ●

कैसी विचित्र स्थिति है कि आज हमारे युवक 'विवाह' के नाम पर एक नहीं अनेक लडकिया को देखते हैं! कैसी विचित्र स्थिति है कि माँ-बाप को अपनी लडकी को दस पाँच लडको को दिखाने मे हया और शर्म का अनुभव नहीं होता!! देखने वाले सोचें किन आँखो से देखते हैं, दिखाने वाले सोचें किन आँखों को दिखाते हैं!!! कहाँ है भारतीय सस्कृति की वह उदात्त भावना—पत्नी के अतिरिक्त नारी मात्र माँ का स्वरूप है? लडकी की मन स्थिति का भी विचार करें। जब कि वासना भरी आँखें उसे ठुकरा देती होंगी, उसके मन मे विचारो का कौन-सा तूफान उठता होगा? जब कोई युवक किसी लडकी को पसद कर लेता होगा, क्या लडकी के मन मे भाव उत्पन्न नहीं होते होंगे कि मुझे किसलिए इस 'पति' के प्रति शास्त्रानुकूल 'पातिव्रत' भाव रखना चाहिए,

ये 'काम' के हाट

एक छोटी-सी बच्ची है जहा मैं रहता हूँ। उस दिन उसने हठ पकड़ लिया और माँ ने उसे बढ़िया-सी साड़ी पहना दी। बच्ची का शौक पूरा हो गया। माँ को संतोष मिल गया।

● ● ●

घटना साधारण-सी थी और सामान्य रूप में उसमें कोई विशेष बात भी नहीं दीखती। पर, मुझे वह इतनी साधारण घटना नहीं लगती कि जिस पर विचार ही न किया जा सके।

शायद, विचारवान् लोग मेरी इस धारणा से सहमत होंगे कि बचपन में घर करने वाली यह बनाव ठनाव की भावना ही यौवन की देहली तक पहुँचते-पहुँचते अनजाने ही शृंगार के विकृततम रूप में परिणत हो जाती है। इसी का परिणाम है कि नगर के बाजारों में

निकल जाँय शृंगार का हाट-सा लगा नजर आयगा; फैशन की नुमाइश लगी दिखाई देगी।

आखिर इस शृंगार का क्या प्रयोजन ? क्या लाभ ? जब मैंने ये प्रश्न एक अनुभवी सज्जन से किए, उन्होंने उत्तर दिया—"महिला का स्वभाव है, यह चाहती है कि अधिक से अधिक पुरुष उसकी ओर आकर्षित हों।" दूसरे सज्जन से यही प्रश्न करने पर उत्तर मिला—"पति पर अधिकार रखने के लिए महिला को यह सब कुछ करना पड़ता है।"

मैंने फिर प्रश्न दोहराया—"क्या इससे पति की दृष्टि वास्तव में अपनी पत्नी तक हो सीमित हो जाती है ?"

उत्तर मिला—"नहीं।"

"तो ?"

"परिणाम बिलकुल विपरीत होता है। मैंने स्वयं देखा है कि शृंगार से लदी पत्नी के साथ चलते-चलते भी लोगों की आँखें दूसरी महिलाओं को घूरती रहती हैं।"

समस्त चर्चा से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शृंगार किया किसी भी भावना से जाता हो, उसका परिणाम भयंकर होता है। उसके परिणामस्वरूप मानसिक व्यभिचार को जन्म मिलता है। लोगों की वासनायें उभड़ती हैं ! आखिर सब योगी तो नहीं हैं !

मानसिक व्यभिचार के इन स्रोतों को पल्लवित करना कहाँ तक ठीक है ? हो सकता है, कामशास्त्र में शृंगार का महत्वपूर्ण स्थान हो, पर हर बाजार-गली को चौबीसों घंटे काम की साकार मूर्तियों

मानी जा सकतीं—शायद उनके द्वारा भी नहीं जो 'नर-नारी समानता' की वेदी पर सब कुछ बलिदान कर देना चाहते हैं। जो लोग विदेश में जाकर स्वदेश को भूल जाते हैं, उन्हें एक अंग्रेज कवि ने "जीवित रहते हुए भी मृत" कहा है।

अब प्रश्न उठता है : जो फ्रेंच महिला भारतीय पुरुष के साथ विवाहित हो कर आई, उनके स्वदेश-प्रेम का क्या हुआ? यदि कहा जाय कि आज भी उन्हें फ्रांस के प्रति पूर्ववत् अनुराग है, तो प्रश्न उठता है : जिसके अन्तर में किसी भारतेतर राष्ट्र के प्रति 'स्वदेशवत्' प्रेम है, उसे भारत का नागरिक (कालान्तर में राष्ट्रीय) होने का क्या अधिकार? किंतु योरपीय महिलाएँ जिस प्रकार विदेशियों से विवाह करके स्वयं को अपने पति की राष्ट्रीयता में बखूबी ढाल लेती हैं, उसे देख कर उनकी प्रशंसा ही की जा सकती है।

किन्तु, प्रशंसा करने से समस्या का हल नहीं निकलता। समस्या उपस्थित होती है कि मातृभूमि के प्रति अनुराग को त्याग कर विदेश के प्रति अनुराग प्रकट करने वाले व्यक्ति के "जीवित रहते हुए भी मृत" शरीर में पुन आत्मा का संचार कैसे हो जाता है। तो क्या विदेश के प्रति अनुराग बाह्य आडम्बर मात्र रहता है?

खैर, इन प्रश्नों को इस सीमा तक न खींच कर, यदि किसी प्रकार अनुराग-परिवर्तन की यथार्थता पर विश्वास कर भी लिया जाय, तो भी दो तुलनात्मक वस्तुएँ सामने आ खड़ी होती हैं :

स्वदेश-प्रेम व वासनाजनित प्रेम। और इस प्रकार के अनुराग-परिवर्तन के उदाहरणों में स्पष्ट अनुभव होता है कि वासनाजनित प्रेम की वेदी पर स्वदेश-प्रेम की बलि चढ़ा दी जाती है। और जब वासना प्रेरित मनोवेगों ने व्यक्ति के शरीर और मन पर अधिकार कर लिया, इसकी कोई गारंटी नहीं है कि अनुराग-परिवर्तन का यह नाटक एक बार ही होकर रुक जायगा। योरपीय देशों में दो-दो चार-चार साल बाद एक नाटक का पटाक्षेप और दूसरे का मंगलाचरण होते सहज देखा जा सकाता है! दुनिया 'प्रेम की कहानियों' के रूप में चाव से उन्हें पढ़ती है!

लेकिन मेरी आत्मा इस सब को देख-सुन कर सिहर उठती है। वह कैसा देश-प्रेम है जो वासना के वेग में पैर जमाए नहीं रह पाता? वह कैसा राष्ट्र-प्रेमी है सो वासना के प्रवाह में टिक नहीं पाता?

यह हाल है उस महाद्वीप का जहां 'राष्ट्र' की बाल की खाल निकाली गई है, जहां राष्ट्र की अगणित परिभाषाएँ की गई हैं, जहां के लोगों की राष्ट्रीयता को आदर्श माना जाता है!!

फिर मेरी दृष्टि जाती है भारत—वह भारत जहां 'राष्ट्र' की परिभाषा करने में सिर न खपा कर उसे जीवन में साकार करने का अनुपम प्रयास किया गया है—की उन नारियों की ओर जिन्हें संसार निरक्षर, दलित मानता है। मेरा मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है। इतिहास के अगणित पृष्ठ चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं—भारतीय नारी ने प्राण गँवाए हैं, पर

से सजाए रहना कहाँ तक उचित है ? 'काम' व्यक्तिगत क्षेत्र का विषय है, उसे सार्वजनिक क्षेत्र का विषय बनाया जाना नितांत अनुचित है। जिस-जिस समाज ने 'काम' को सार्वजनिक क्षेत्र में उतारा है, उस उसका अध:पतन हुआ है।

मध्यकालीन राजाओं के दरबारों में जन-मन-रंजन के नाम पर नाचने वाली नर्तकियों की घोर भर्त्सना की जाती है (की भी जानी चाहिए), किन्तु कितना लज्जाजनक है कि जाने अनजाने हम हर गली-बाजार को मध्यकालीन दरबारों का और अपनी हर माँ-बहिन को नर्तकियों का रूप प्रदान किए दे रहे हैं! देखें तो सही उन्नति और प्रगति के नाम पर क्या हो रहा है! परदा हटाना है हटाइए, शिक्षा देनी है दीजिए, मगर शील का परदा न हटाइए, ऐसी शिक्षा तो मत दीजिए जो जीवन को ही भ्रष्ट कर दे। सादे कपड़ों में भी परदा हट सकता है, सादे वस्त्रों में भी शिक्षा के प्रवाह को अन्तर तक पहुँचाया जा सकता है।

● ● ●

यह कैसा राष्ट्र-प्रेम ?

एक भारतीय फ्रांस गए। लौट कर जब आये, एक फ्रेंच महिला से विवाह करते लाए। उक्त भारतीय पुरुष के सम्बन्ध मे इधर-उधर अनेक प्रकार की चर्चाएँ हो सकती हैं, परन्तु उक्त फ्रेंच महिला के सम्बन्ध मे एक ही धारणा है कि वह बहुत मिलनसार हैं और उन्होंने भारतीय जन-जीवन के अनुरूप सहज ही स्वय को ढाल लिया है। सीधे-सादे अर्थ मे वह भारत की सच्ची नागरिक बन गई हैं।

● ● ●

इस घटना पर अनेक दृष्टिकोणो से विचार किया जा सकता है। किन्तु मेरा उद्देश्य एक ही दृष्टिकोण से विचार करना है।

हर व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि एव राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम होता है। महिलायें भी उसका अपवाद नही

वासना की वेदी पर अपने राष्ट्र-प्रेम और धर्म-प्रेम को कभी नहीं चढ़ाया है।

और हँसी आती है मुझे उस समय जब 'योरपीय स्टायल' में दीक्षित रमणियाँ इन भारतीय साध्वियों को राष्ट्र-प्रेम, देश-प्रेम, समाज-प्रेम का पाठ पढ़ाने निकलती हैं!

● ● ●

जैसा चाहते हैं करते क्यों नहीं ?

मेरे एक मित्र एक आफिस में क्लर्क हैं। उस दिन उनके आफिस के पास से निकल रहा था। रोक लिया और लगे सुनाने आफिस का कच्चा-चिट्ठा। चिट्ठा काफी लम्बा था, इसलिए मुझे उनके साथ उनके आफिस में कुछ देर बैठना ही पड़ा।

"क्या बताऊँ भाई! आफीसर तो बहुत ही जालिम है। दो मिनट देर होने पर ही रजिस्टर (उपस्थिति) में निशान लगा देता है। गाली-गलौज तो उसके लिए आम-फहम बात है। रात के नौ नौ बजे तक काम करता रहता हूँ, फिर भी उसकी आँखों में ही नहीं जमता। क्या कहूँ, बुरी तरह परेशान हो गया हूँ! सोचता हूँ, आदमी के दिल से दया और सहृदयता तो उठ ही गई है।"—उनकी मुख्य शिकायत थी।

मुझे वास्तव में मित्र की दशा पर तरस ही आया।

मैं मुंह खोलना ही चाहता था कुछ कहने के लिए कि इसी बीच चपरासी आ पहुँचा। मानो मित्र महोदय उसके इंतजार में ही बैठे हों। प्रश्न किया—"कहाँ रहा तीन घंटे तक ?"

"बाबूजी ! लम्बी लाइन लगी हुई थी डाकखाने पर। जैसे-तैसे कर बड़ी मुश्किल से टिकट ला पाया हूँ !"

"हम कुछ नहीं जानते, घंटे भर तक रहा कहाँ ? जरूर कहीं न कहीं मटरगश्ती करता रहा होगा ! भला वहाँ इतना भी वक्त लग सकता है !"

"बाबूजी ! ......"

"बाबूजी-बाबूजी कुछ नहीं। तुम सब लोग हरामखोर होते जा रहे हो। दस दफा कहने पर एक दफा सुनते हो और फिर भी दो मिनट के काम में तीन घंटे लगाते हो !"

"बाबूजी ! ......"

"चुप बेहूदे ! गलती और फिर मुंह लगता है ! समझ क्या रखा है तूने ! अभी लगाता हूँ गैरहाजिरी। सरकार का पैसा क्या हरामखोरों के लिए है ? ......"

शायद मित्र महोदय और कुछ भी कहना चाहते थे, पर मेरी उपस्थिति का खयाल कर गए। लेकिन फिर भी रजिस्टर उठाकर गैरहाजिरी तो लगा ही दी। चपरासी रुआंसा होकर चला गया। आज भी उसकी दयनीय मुखाकृति और शरीर से चूते खारे पसीने का दृश्य मेरी आँखों के सामने ज्यों का त्यों उपस्थित हो जाता है। कितनी बेबसी थी ! कितनी लाचारी थी !

चपरासी के चले जाने पर मित्र मेरी ओर उन्मुख होकर बोले—"देखा आपने, कैसे बेहूदे होते जा रहे हैं ये चपरासी भी ! काम नहीं करेंगे ठीक से और फिर मुंह लगेंगे ! दो-चार दफा इसी तरह गैरहाजिरी लगेगी, तो दिमाग ठीक हो जायगा !"

शायद वह मुझ से अपनी बात का समर्थन कराना चाहते थे। मैंने बात को दूसरी ओर ही मोड़ दिया, और जल्दी ही उठ कर चल दिया। घर आने की जल्दी भी तो थी।

रास्ता डाकखाने से होकर ही था। देखा, तो वास्तव में डाकखाने पर भारी भीड़ थी। पूछने पर पता चला कि 'रेडियो लाइसेंस फी' जमा करने की तारीख है।

लगा, चपरासी का कथन कोई गलत नहीं था।

● ● ●

गलती न होते हुए भी चपरासी पर डाँट-फटकार क्यों ? क्या क्लर्क के प्रति अफसर के दुर्व्यवहार के प्रतिक्रियास्वरूप नहीं ? क्या उसमें प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की आग की झलक नहीं ?

यथार्थ में अफसर–क्लर्क–चपरासी का क्रम हम सभी के जीवन में चलता है। हम सबल और सशक्त के अत्याचार-अनाचार–भय अथवा प्रलोभन वश–सहते हैं, किंतु अपने से छोटों के साथ, बड़ों से अपने प्रति सद्व्यवहार की अपेक्षा रखते हुए भी, ऐसा व्यवहार करते हैं जो हमारी निज की कसौटी पर ही

खरा नहीं उतरा। सीधे-सादे शब्दों में हम किसी की ज्यादती सहने के लिए तैयार नहीं हैं, परन्तु दूसरों के प्रति ज्यादती करने में हमें कतई संकोच नहीं है। सम्भवतः, हम इसे लेन-देन के समान ही मान लेते हैं।

परन्तु यह अवस्था अत्यन्त दयनीय तथा हृदय विदारक है। इससे सामाजिक अन्याय और प्रपीड़न में किंचित् भी कमी होने की आशा नहीं की जा सकती, अपितु निरन्तर उसके बढ़ने की ही सम्भावना मानी जा सकती है। इस व्याधि से मुक्ति का एक ही उपाय है कि हम दूसरों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने का निश्चय करें जैसे व्यवहार की हम दूसरों से अपेक्षा रखते हैं। साथ ही, हमें अपने प्रति हुए अन्याय तथा अनाचार के परिणामस्वरूप निज अन्तर में उत्पन्न हुई प्रतिशोध की आग में अपने से निर्बलों को जलाने का स्वभाव त्यागना होगा। यदि हम वास्तव में दुःखी हैं, हमें अन्याय और अत्याचार खलता है, तो हम क्यों नहीं खड़े होते अन्यायी के विरुद्ध? क्यों नहीं लड़ते अत्याचारी के खिलाफ? अत्याचार सहना भी तो उतना ही बड़ा पाप है जितना बड़ा अत्याचार करना! और जो अत्याचार सहे भी और करे भी उससे बड़ा पापी इस संसार में दूसरा नहीं हो सकता!

• • •

साहित्य और सरकार

उस दिन वार्तालाप मे एक प्रसिद्ध साहित्यकार ने टिप्पणी की, "अब क्या है, हिन्दी के साहित्यकार धीरे-धीरे सरकारी आश्रय मे चले जा रहे है। सभी को सरकार एक-एक कर खरीद रही है। किसी को रेडियो मे नौकरी दी जा रही है, किसी को सरकारी पत्रो का सम्पादक बनाया जा रहा है और बचे-खुचों को सरकारी पत्रो मे रचनायें लिखने को प्रोत्साहित किया जा रहा है। परिणाम यह है कि स्वतन्त्र साहित्य के निर्माण की गति अवरुद्ध होती जा रही है; साहित्य की आत्मा मरती जा रही है। बहुत कम लोग स्वतन्त्र बुद्धि से साहित्य सृजन की ओर अग्रसर होते दीख पडते है।"

● ● ●

यह कथन कितना उपयुक्त है, इस पर विचार करना चाहिए। दिखाई यह देता है कि गत अर्ध शताब्दी

के संग्राम से थका साहित्यकार संतोष का बाँध तोड़ कर वैभव और सुविधाओं की ओर दौड़ने लगा है। सरकार से अधिक सुविधाएँ कौन दे सकता है? परिणामत, सरकार का दृष्टिकोण साहित्यकार में घुसता जा रहा है।

मैं यह नहीं कहता कि सरकारी दृष्टिकोण अपनाना हर स्थिति में अनुचित ही है, किंतु यह अवश्य कह सकता हूँ कि किसी स्वार्थ विशेष के वशीभूत होकर किसी दृष्टिकोण विशेष को अंगीकार करना साहित्यकार के धर्म के विपरीत है। साहित्यकार *स्वतंत्रता का रक्षक है, जन-भावनाओं का प्रतिनिधि है।* उसका किसी बन्धन में बँधना ठीक नहीं है।

रीतिकाल में हिन्दी साहित्य राज्याश्रय पाकर पंगु हो गया, राज्य दरबारों का बन्दी बन गया—यह सभी स्वीकार करते हैं। स्वाधीनता के काल में किसी दरबार या सरकारी आफिसों की सीमा में साहित्य का बन्दी बनना तो और भी अहितकर रहेगा। जनता मुक्ति के गान गाएगी और राज्याश्रय का भूखा साहित्यकार बन्दी अंतर से बेसुरा राग अलापेगा। कैसे दोनों का मेल बैठेगा? साहित्य की दिशा कुछ और होगी और जनता की दिशा कुछ और? यह नहीं चल सकता।

आज जनतंत्र का युग है। शासन को भी शोभा नहीं देता कि यह देश के साहित्यकारों को चाँदी के टुकड़ों पर खरीदने का प्रयास करे। वास्तव में चाहिए तो यह कि शासन इस बात के लिए पूर्ण सतर्क रहे कि कहीं उसकी व्यवस्थाओं के कारण मुक्त

साहित्य के निर्माण में बाधा उपस्थित न हो। किंतु यदि शासन साहित्यकारों की आत्मा को खरीदने के लिए उद्यत ही है तो साहित्यकार को उसकी चुनौती स्वीकार करनी चाहिए और जिस प्रकार स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व वह कष्ट सहकर साहित्य का सृजन किया करता था, आज भी करे।

इस कार्य मे समाचार-पत्रों के सम्पादकों तथा प्रकाशकों का सहयोग अति आवश्यक है। यदि सम्पादक गण अपनी सुविधा के विचार से अथवा प्रसिद्ध नामों के प्रलोभन से नामी साहित्य-कारों को--बिना इसका विचार किये कि उन्होंने अपनी आत्मा कहीं किसी के हाथों बेच तो नहीं दी है--ही पत्रों में स्थान प्रदान करते रहे तो भविष्य अधकारपूर्ण ही कहा जायगा।

अभी १५ अगस्त के अवसर पर विभिन्न समाचार-पत्रों ने अपने विशेषांक निकाले। अधिकाश पत्रों मे एकाध लेख को छोड़ कर सभी सरकार-प्रसारित थे! इसका एक मात्र कारण मेरी समझ मे तो यही आ सका कि सरकार काफी रुपया देकर प्रसिद्ध लेखको से लेख (मनचाहे) लिखाती है और धनाभाव से ग्रस्त पत्रिकाओं के सम्पादक प्रसिद्ध लेखकों के नामों को देख कर सरकार-प्रसारित लेखों को ज्यों का त्यों स्थान प्रदान करते हैं।

मेरी समझ से, इस रोग से मुक्ति का उपाय यही है कि देश के प्रमुख साहित्यकार अथवा बड़े-बड़े समाचार-पत्र इस प्रकार के संस्थानों का सगठन करें जिनका कार्य हो लेखकों से लेख लिखाना और उचित पारिश्रमिक देकर उन्हें देश के सभी पत्रों को प्रसारित

मैंने अपना भाव और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया, "जगती के प्रथम कवि वाल्मीकि ने जब काव्यमय गिरा का उच्चारण किया होगा, क्या कोई वाद रहा होगा ?"

उत्तर था, "नहीं।"

पुनः प्रश्न किया मैंने, "अब बताइए, कविता अनुगमन करती है वाद का अथवा वाद अनुगमन करता है कविता का ?"

"वाद।"

'अब आप ही सोचिये, वाद का अनुगमन कर आप जो कुछ लिखते हैं, वह क्या हो सकता है।"

• • •

इतनी कटु आलोचना करने के पश्चात् भी मुझे उक्त छात्र के प्रति हार्दिक सहानुभूति है, क्योंकि उनका विचार-प्रवाह उनका स्वयं का न होकर साहित्यिक दिग्गजों की देन है।

'संघ शक्ति कलियुगे।' इस सिद्धांत को साहित्यकारों ने भी युग-धर्म के रूप में अच्छी प्रकार पकड़ा है। अब काव्य स्वांतः-सुखाय वृत्ति से नहीं रचे जाते, तो रचना से पूर्व ही काव्य पर 'वाद' की मोहर लगा दी जाती है। इतना ही क्यों, काव्य से पहले पत्रिका और पत्रिका से भी पहले कवि-संगठन का विचार किया जाता है। काव्य को 'वाद' की चेरी बना दिया गया है और जो 'वाद' के चक्र में मुक्त रह कर काव्य की रचना करने का प्रयास भी करते हैं, उन्हें 'वाद' के ये प्रणेता या सर्वेसर्वा उठने देना ही नहीं चाहते। परिणामतः, आर्थिक क्षेत्र की भांति साहित्यिक क्षेत्र

में भी 'सार्वजनिक क्षेत्र' का निर्माण होता जा रहा है; अब काव्य व्यक्ति की निजी निधि न रह कर, सामूहिक आन्दोलन का विषय बनता जा रहा है। जिस अखाडे के जितने अधिक पत्र-पत्रिकाएँ हैं और जितने अधिक अनुयायी हैं, काव्य की वही धारा उतनी ही अधिक श्रेष्ठ है! दो-चार रचनाएँ लिखने पर ही 'सर्वश्रेष्ठ', 'राष्ट्र-कवि', 'उपन्यास सम्राट्' उपाधियाँ मिल सकती हैं—बशर्ते किसी 'वाद' का अखाडा ढोल पीटने के लिए तैयार हो। और यदि ढोल पीटने वाले नहीं तो जिन्दगी भर कोई लिखता रहे, दस-पाँच प्रशसक भी उसे नहीं मिल सकते। प्रशसकों की बात तो जाने दीजिए, यदि कोई लेखक या कवि अपनी रचना को किसी 'वाद' विशेष के बँधे-बँधाए ढाँचे मे फिट नहीं बैठा पाता, तो उसे प्रकाशन के लिए पत्रिकाएँ मिल पाना भी सरल नहीं!

ऐसी अवस्था मे ख्याति की आकाक्षा रखने वाले व्यक्ति के समक्ष इसके अतिरिक्त कौन-सा मार्ग रह जाता है कि वह भी अपनी रचनाओ को किसी ढाँचे विशेष मे ढाल कर स्वय को किसी 'वाद' का पाँचवाँ सवार बना दे!

किंतु हम न भूलें कि 'वाद' के वर्गों मे बँधा काव्य उस काव्य-भागीरथी से कभी तुलना नहीं कर सकता जो भावपूर्ण उन्मुक्त अन्तर के अजस्र स्रोत से नि सृत होकर मुख-विविर से प्रवाहित होती है अथवा लेखनी के माध्यम से कागज पर अपनी अनोखी छटा अकित करती है।

जिन्हें चिरतन साहित्य के निर्माण की अभिलाषा है वे स्मरण

करना। इस प्रकार भले ही पत्रों को लेख बिलकुल निःशुल्क प्राप्त न हो सकें, किन्तु इतने कम शुल्क पर अवश्य प्राप्त हो सकेंगे कि साधारण स्तर का पत्र भी उन्हें प्रदान करने में कठिनाई का अनुभव नहीं करेगा।

• • •

साहित्य में 'वाद' की विभीषिका

कार्यालय मे बैठा हुआ था। एक युवक पधारे। परिचय हुआ। नवागतुक एम० ए० के छात्र थे। रचना लेकर आए थे। उसके प्रकाशन की तीव्र उत्कण्ठा थी। शायद प्रभावित करने के विचार से बोले, "मै पत जी का अनुयायी हूँ; प्रगतिवादी कविताएँ लिखता हूँ।"

कौन-सा कवि किस 'वाद' के क्षेत्र मे आता है, इससे तो मुझे कोई अभिप्राय था नहीं। हां, मुझे यह विचित्र-सा अवश्य लगा कि साहित्य-सागर के तट पर खड़ा एक युवक स्वय को 'वाद' की बेडियों से जकड़ने मे गौरव का अनुभव कर रहा है! मैंने धीरे से कहा, "बन्धु, बताओ कविता पहले बनी या वाद?"

अनपेक्षित प्रश्न सुन कर उक्त छात्र थोड़ी देर तक गम्भीरतापूर्वक विचार करते रहे और फिर बोले, "प्रश्न कुछ समझ मे नहीं आया!"

करें किसी कानन में सरिता के तट पर वृक्ष के नीचे बैठकर भोज-पत्रों पर लिखते अथवा उन्मुक्त कण्ठ से गाते उन वाल्मीकि अथवा तुलसी का जिन्होंने ख्याति की भावना से मुक्त हो कर भावों की ऐसी भागीरथी बहाई कि आज भी उसमे अवगाहन कर हम शांति और संतोष का अनुभव करते हैं।

वादों मे स्थायित्व नहीं है, इसका इससे अच्छा प्रमाण क्या हो सकता है कि कुछ दर्जन वर्ष के काल मे ही हिन्दी के क्षेत्र में अनेक वाद जन्म लेकर कब्र में भी पहुँच चुके हैं। किन्तु काव्य तो शाश्वत है, वह क्या सौ-पचास वर्षों मे मरने वाली वस्तु है !

वादों के जनकों और संरक्षकों को भी अपनी लचर भित्ति का अनुभव हो गया है, इसका उज्ज्वल प्रमाण है सूर-तुलसी जैसे कालातीत कवियों को भी भिन्न-भिन्न वादों के क्षेत्र मे खींचा जाना। निश्चय ही यह खींचातानी महाकवियों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए नहीं है, अपितु वादों के मृत गातों में प्राण फूंकने का चातुर्यपूर्ण प्रयास है।

● ● ●

भौतिक उन्नति या आन्तरिक शुद्धि

उन्हें निस्संकोच भाव से 'साहब' कहा जा सकता था। कोई कमी नहीं थी उनमें। बढ़िया चमकदार रंग-बिरंगी पैंट पहिने थे। ऊपर से 'बुश शर्ट' थी, बढ़िया कपड़े की—शायद आधुनिक भाषा मे उसे 'सुरेया' कहा जाता है। सिर पर फैल्ट कैप लगी थी। मूंछें बिलकुल साफ थीं। मुंह में 'बीड़ा' लगा हुआ था और चेहरे पर पाउडर। गले में टाई लटक रही थी तथा हाथ में सिगरेट थी, जिसमें से धुआं रह-रह कर अपना जोश दिखा रहा था। पैरों में काले 'पम्प शू' थे और उनसे मिलती-जुलती ही साहब की शक्ल थी। बस, यही एक कमी थी जो उन्हें गोरा साहब बनाने से रोकती थी, लोगों को 'काला साहब' कहने की गुंजाइश रह जाने देती थी।

जिस समय 'साहब बहादुर' रैस्टोरां में मेरी मेज के दूसरी ओर आकर जमे, मुझ पर रोब गालिब

हो गया। समझा, कोई प्रोफेसर होंगे और यदि प्रोफेसर न हुए तो हेडक्लर्क अवश्य होंगे। किन्तु जब उन्होंने अजीब लहजे के साथ 'वाटर' माँगा, मेरा माथा ठनका। उसके बाद तो न जाने कितनी ही ऐसी बातें सामने आई, जिनसे मैं समझ गया कि महानुभाव के अन्तर और बाह्य में कोई सम्बन्ध नहीं।

जब उनकी योग्यता के काफी प्रमाण मुझे मिल चुके, मैंने शान्तिपूर्वक पूछा, "भाई! आप यहाँ कहाँ काम करते हैं?"

शायद 'भाई' का सम्बोधन उनको रुचिकर नहीं लगा। एक धोती-कुरता पहिनने वाला व्यक्ति 'भाई' कहे! कितना बड़ा अपमान है!! वह तपाक से बोले--"जी, आपको मतलब?"

अब मुझे अपनी गलती समझ में आ चुकी थी। तुरन्त बोला "कुछ नहीं बाबूजी! वैसे ही पूछ लिया।"

"मैं फैक्टरी मे काम करता हूँ।"

"क्या काम?"

"स्वीपर का!"

उनको स्वीपर कहने मे कुछ गर्व का अनुभव हुआ। मुझ जैसे व्यक्ति के समक्ष गौरव होना भी चाहिये था, मेरे वेश से कोई अन्दाज भी तो नहीं लगा सकता कि अंग्रेजी का भी कुछ ज्ञान होगा।

अब मुझे शरारत सूझी। बोला-"आपकी ड्रेस कमाल की है। अच्छे-अच्छे लोगों के पास ऐसी ड्रेस नहीं देखी!"

प्रशंसा समझ कर उक्त सज्जन फूल कर कुप्पा हो गए। तुरन्त उत्तर दिया— 'देखते ही बड़े-बड़े आफीसर चकरा जाते हैं।"

"जरूर चकरा जाते होंगे। आपकी 'पे' क्या है ?"

"४० रुपये। क्यों ?"

"तब तो बाबूजी ! आपकी काफी 'पे' कपड़ों पर ही खर्च हो जाती होगी ?"

"हो जाती है तो क्या है ? लोगों पर रोब तो जमता है।"

"भूखे रहकर रोब का......"

पूरी बात सुने बिना ही तमतमा कर बोले, "आप भी क्या बात करते हैं। कपड़े-लत्तों का रोब दिखा कर ही तो आज तक बामन-बनियों ने हम लोगों को कुचल कर रखा है। अब कोई साला आंख नहीं मिलाता।"

मैंने बहुत समझाने का प्रयास किया कि आदर कपड़ों से नहीं, गुणों से होता है, किन्तु उनकी समझ में एक भी बात नहीं आ सकी। वह एक ही धुन पूरे रहे—"बड़े आदमी ऐसा करते हैं, हम भी ऐसा क्यों न करें; बड़े आदमी वैसा करते हैं, हम भी वैसा क्यों न करें ?"

● ● ●

यह न तो व्यग्य-चित्र है और न व्यंग्य के अभिप्राय से लिखा गया है। इस प्रकार की घटनाएं दैनिक जीवन में देखने का प्रायः सभी को अवसर प्राप्त हुआ करता होगा।

होली हो या दीपावली या अन्य कोई त्योहार, हमारे वे बन्धु, जिन्हें हम दलित के नाम से पुकारते हैं और जिनके उत्थान के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किए जा रहे हैं, अजीब-सी वेश-

हो गया। समझा, कोई प्रोफेसर होंगे और यदि प्रोफेसर न हुए तो हेडक्लर्क अवश्य होंगे। किन्तु जब उन्होंने अजीब लहजे के साथ 'वाटर' माँगा, मेरा माथा ठनका। उसके बाद तो न जाने कितनी ही ऐसी बातें सामने आईं, जिनसे मैं समझ गया कि महानुभाव के अन्तर और बाह्य में कोई सम्बन्ध नहीं।

जब उनकी योग्यता के काफी प्रमाण मुझे मिल चुके, मैंने शान्तिपूर्वक पूछा, "भाई! आप यहाँ कहाँ काम करते हैं?"

शायद 'भाई' का सम्बोधन उनको रुचिकर नहीं लगा। एक धोती-कुरता पहिनने वाला व्यक्ति 'भाई' कहे! कितना बड़ा अपमान है!! वह तपाक से बोले—"जी, आपको मतलब?"

अब मुझे अपनी गलती समझ में आ चुकी थी। तुरन्त बोला, "कुछ नहीं बाबूजी! वैसे ही पूछ लिया।"

"मैं फैक्टरी में काम करता हूँ।"

"क्या काम?"

"स्वीपर का!"

उनको स्वीपर कहने में कुछ गर्व का अनुभव हुआ। मुझ जैसे व्यक्ति के समक्ष गौरव होना भी चाहिये था, मेरे वेश से कोई अन्दाज भी तो नहीं लगा सकता कि अंग्रेजी का भी कुछ ज्ञान होगा।

अब मुझे शरारत सूझी। बोला—"आपकी ड्रेस कमाल की है। अच्छे-अच्छे लोगों के पास ऐसी ड्रेस नहीं देखी!'

प्रशंसा समझ कर उक्त सज्जन फूल कर कुप्पा हो गए। तुरन्त उत्तर दिया—"देखने को बड़े-बड़े आफीसर चकरा जाते हैं।"

"जरूर चकरा जाते होंगे। आपको 'पे' क्या है ?"

"४० रुपये। क्यों ?"

"तब तो बाबूजी ! आपकी काफी 'पे' कपड़ों पर ही खर्च हो जाती होगी ?"

"हो जाती है तो क्या है ? लोगों पर रोब तो जमता है।"

"भूखे रहकर रोब का······"

पूरी बात सुने बिना ही तमतमा कर बोले, "आप भी क्या बात करते हैं। कपड़े-लत्तो का रोब दिखा कर ही तो आज तक बामन-बनियों ने हम लोगों को कुचल कर रखा है। अब कोई साला आँख नहीं मिलाता।"

मैंने बहुत समझाने का प्रयास किया कि आदर कपड़ो से नहीं, गुणों से होता है, किन्तु उनकी समझ मे एक भी बात नहीं आ सकी। वह एक ही धुन पूरे रहे—"बड़े आदमी ऐसा करते हैं, हम भी ऐसा क्यों न करें; बड़े आदमी वैसा करते हैं, हम भी वैसा क्यों न करें ?"

● ● ●

यह न तो व्यंग्य-चित्र है और न व्यंग्य के अभिप्राय से लिखा गया है। इस प्रकार की घटनाए दैनिक जीवन मे देखने का प्रायः सभी को अवसर प्राप्त हुआ करता होगा।

होली हो या दीपावली या अन्य कोई त्योहार, हमारे ये बन्धु, जिन्हें हम दलित क नाम से पुकारते हैं और जिनके उत्थान के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किए जा रहे हैं, अजीब-सी वेश-

भूषा मे, अजीब से हाव-भाव के साथ सडकों पर घूमते दिखाई देंगे। कुछ शराब के नशे मे मस्त होंगे तो कुछ पान की पीक इधर-उधर थूकते हुए और सिनेमा के अश्लीलतम गीत जोर-जोर से गाते हुए घूम रहे होंगे। मेरा कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि ये दोष तथाकथित उच्च-वर्ग मे दिखाई नहीं देते।

आखिर यह सब क्यों? कुछ लोगो का उत्तर होगा—अज्ञान, बेकारी, दरिद्रता। इन बातों को मैं अस्वीकार नहीं करता, किंतु समस्या को इन्हीं तक सीमित करना उपयुक्त नहीं समझता।

आज हमारे तथाकथित सुधारकों ने सुधार की भावना के स्थान पर 'दलित वर्ग' मे उच्च वर्ग के प्रति ईर्ष्या का भाव जगा दिया है। यह सभी जानते हैं कि जब नियंत्रण के निमित्त दुकूल पर्याप्त सबल नहीं होते, सरिता समस्त बांधों को तोडकर प्रवाहित होने लगती हैं। वही स्थिति आज हिंदू समाज के इस वर्ग की है। ईर्ष्या का भाव तो जग गया है, किन्तु यह ईर्ष्या गुणो के प्रति नहीं है, बाह्य आडम्बरों के प्रति है। सर्वज्ञात है कि आन्तरिक जीवन को महान् बनाना उतना ही कठिन है, जितना बाह्य आडम्बरों को अपना कर स्व-जीवन को किसी भी रंग मे रंग लेना। हमने पुराने बांध तोड कर नई दिशा देने का प्रयास किया, किंतु नवीन दिशायें नवीन अनुबन्धों का निर्माण नहीं कर पायीं।

परतंत्रता के युग मे बड़ा किनको समझा जाता था—जिनके पास धन था, जिनके पास पहनने-ओढ़ने को अच्छे वस्त्र थे,

अंग्रेजी सभ्यता को अपनाने की जिनमें क्षमता या कुशलता थी (जिसके अन्तर्गत विदेशी परिधान तथा विदेशी आचार-पद्धति भी सम्मिलित है)। जब दलितोद्धार का नारा बुलन्द हुआ, दलितों की दृष्टि उक्त तथाकथित बड़ों की ओर ही गई और परिणाम यह हुआ कि उनके दुर्गुण उनमे प्रविष्ट होने लगे।

आज देश स्वाधीन हो चुका है। 'बड़प्पन' की मान्यताएँ बदल रही है और यदि नहीं बदल रहीं, तो बदलनी चाहिए। हम स्वामी राम के कथनानुसार बाह्य रूप-सज्जा के स्थान पर आन्तरिक सद्गुणो को महत्व प्रदान करना सीखें और यदि दलित वर्ग मे हमें ईर्ष्या निर्माण करनी है तो उन्हीं सद्गुणों के प्रति करें, अन्यथा समाज आन्तरिक शुद्धता के स्थान पर ऐसे वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर होगा जिससे दलित वर्ग का उत्थान नहीं, पतन होगा।

इसमें किंचित् भी सदेह नहीं कि इस वर्ग को भौतिक साधनों की आवश्यकता है, किंतु उससे भी अधिक आवश्यकता है आन्तरिक शुद्धि की। आज शासन तथा अनेक दलों की ओर से दलित वर्ग के उद्धार के लिए अनेक प्रकार के प्रयास चल रहे हैं, किंतु उनकी पहुँच आन्तरिक की अपेक्षा बाह्य अधिक है। हमें उन्हें आन्तरिक शुद्धता की ओर उन्मुख करना होगा।

● ● ●

मुरदाबाद नहीं, जिन्दाबाद

एक दिन बाजार से गुजर रहा था कि कानों में आवाज पड़ी—"मुरदाबाद !"

कुछ आगे बढ़ा तो सुनाई दिया—"''''' चोर है !"

दोनों ही बार नारे लगाने वाले छोटे-छोटे बालक थे। वे नारे किसी अपने साथी के विरुद्ध नहीं तो नगर के एक ऐसे प्रतिष्ठित नागरिक के विरुद्ध लगा रहे थे जो आमचुनाव में किसी दल के प्रत्याशी थे।

मेरा हृदय काँप उठा। जिस देश में प्रारम्भ से ही बालकों के अन्तर में अपने से बड़ों के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान का भाव जाग्रत किया जाता था, आज उसकी कैसी दशा है कि उसके छोटे-छोटे बालक बिन समझे-बूझे, केवल इसलिए कि उन्हें किसी स्वार्थी राजनैतिक नेता ने बिल्ले प्रदान कर दिए हैं अथवा मिठाई की गोलियाँ दे दी हैं, गली-गली में पार्टी का झगड़ा लिए

हुए ऐसे व्यक्तियों को, जिनके प्रति उन्हें सम्मान रखना चाहिए, गालियाँ देते फिर रहे हैं!

ईश्वर रक्षा करे ऐसी दलबन्दी से जिसके प्रभाव से हम जीवन के प्रथम चरण में ही विभेद, विद्वेष, अपमान, अश्रद्धा की ज्वाला में जलने लगते हैं।

जिसे जीतना होगा, जीत जायगा; जिसे हारना होगा, हार जायगा व पर्याप्त समझ होने के कारण (निश्चयपूर्वक तो कहा नहीं जा सकता पर माना जा सकता है) वयस्क नागरिक तो निर्वाचन-काल में उत्पन्न कटुता को भुला कर समन्वित सामाजिक जीवन की ओर अग्रसर हो सकेंगे। किन्तु इन छोटे-छोटे बालकों के अन्तर में, जिन्हें न ससार का ज्ञान है, न अच्छे-बुरे की पहिचान, चुनाव के काल में किसी भी सभ्रान्त नागरिक के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना, क्या समस्त सामाजिक जीवन को भ्रष्टता की ओर अग्रसर करना नहीं है?

सभी दल एकमत हो कर क्या यह निर्णय नहीं कर सकते कि वे ईमानदारी के साथ बालकों को दलगत राजनीति में नहीं घसीटेंगे? यदि ऐसा निर्णय किया जा सका तो राष्ट्र-जीवन का पर्याप्त मात्रा में सरक्षण हो सकेगा तथा बालक निर्माण के क्षणों में भ्रष्ट होने से बच सकेंगे।

आज ईश्वर की कृपा से भारतीय शिक्षा विशेषज्ञ वैसे ही, बालको को राजनीति से अलग रहने की चेतावनी देते हुए भी, उन्हें 'जनतान्त्रिक पद्धति' का ज्ञान कराने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ तथा भरसक प्रयत्नशील हैं। उनके प्रयास ही पवित्र शिक्षा-क्षेत्र को

अपदिश करने के लिए पर्याप्त है। राजनैतिक दल व्यर्थ में प्रत्यक्ष दलबन्दी में छात्रों को घसीट कर यदि अपने सिर पातक न लगाएँ तो अच्छा रहे।

● ● ●

जिस प्रकार की एक घटना का उदाहरण मैंने ऊपर प्रस्तुत किया, उससे भी निकृष्ट तथा हृदयविदारक दृश्य मुझे एक और दिखाई दिया।

नगर मे निर्वाचन हो चुके थे। परिणाम भी घोषित हो चुके थे।

विजयी दल खुशियाँ मना रहा था। मनानी भी चाहिए थीं। विजय मे उल्लास का होना अस्वाभाविक नहीं। किंतु विजयी दल का न जाने कैसा उल्लास था कि वह अपने प्रत्याशी की जय की अपेक्षा पराजित प्रत्याशी के 'मुरदाबाद' के नारे ज्यादा जोर से और उत्साह से लगा रहा था। उत्साह का सचार कुछ इस सीमा तक हो गया था कि कोई महिला निज सौन्दर्य-प्रकाशन की धुन मे वस्त्रविहीना हो जाय।

गाली-गलौज की सीमा तोड कर विजयी दल के कुछ उत्साही जवानों ने पराजित प्रत्याशी की 'शव-यात्रा' भी निकाली! वह दृश्य देख कर मेरा मस्तक तो लज्जा से नत हो गया और मैं समझता हूँ कि प्रत्येक भारतीय का मस्तक लज्जा से नत हो जायगा।

भारतीय सस्कृति दूसरों की पराजय का उपहास करना नहीं सिखाती, अपनी विजय के उल्लास मे पराजित के सताप

को धो देने की प्रेरणा सिखाती है। जो दूसरों के अन्तर को सतप्त करना ही सदैव अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं, वे भारतीय नहीं हो सकते। मैं विश्वास करता हूँ कि भारत मे निवास करने वाला प्रत्येक नागरिक स्वय को भारतीय कहलाने मे गौरव का अनुभव करता है और इसलिए यदि किसी नागरिक या नागरिक-समूह मे किसी अभारतीय परम्परा का प्रचलन बना हुआ है तो वे उसे त्यागकर भारतीय परम्पराएँ अगीकार करें।

चुनाव खिलवाड़ मान कर लड़े जांय। चुनाव के पश्चात् विजयी और विजित दोनों मिल कर किसी व्यक्ति या किसी दल का नहीं, भारत माता का जय-जय निनाद करें। हम चुनाव किस अभिप्राय से लड़ते हैं ? क्या भारत माता की सेवा का अधिकार प्राप्त करने के लिए नहीं ? क्या विरोधी भी भारत माता का प्रेम पाने का उतना ही अधिकारी नहीं, जितना स्व-दलीय ? हम कामना करें—उन्मुक्त हृदय से कामना करें कि परमपिता परमात्मा स्वपक्षी तथा विपक्षी दोनो को चिरायु करें, बल प्रदान करें कि हम सब मिलाकर भारत माता के देवालय को सुदृढ करने मे अनवरत प्रयत्नशील रह सकें।

● ● ●

राष्ट्र-कल्याण-पथ पर अग्रसर हों

स्वाधीन भारत के नागरिक के रूप में जब मुझे पराधीन भारत की घटनाओं का स्मरण आता है, मेरा हृदय रो उठता है। परन्तु जिस समय स्वतंत्र भारत में पल्लवित होने वाली वृत्तियों का ध्यान करता हूं, मेरा मस्तक लज्जा से नत हो जाता है।

आज से कुछ समय पूर्व की घटना है। गोआ के शहीदों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के हेतु एक जनसभा का अयोजन हुआ था। सभास्थल की ओर मैं चला जा रहा था। अकस्मात् एक मित्र के दर्शन हो गये। सभा की ओर चलने का आग्रह किया। मित्र का सीधा उत्तर था, "अमुक दल के द्वारा सभा का आयोजन किया गया है, उसमें कैसे भाग ले सकता हूं ?"

मैंने मित्र को उनके रास्ते जाने दिया, किन्तु मेरा

अन्तर पुकार उठा, 'हे भगवान्! देश की वेदी पर सर्वस्व न्योछावर करने वाले सपूतों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के क्षेत्र में भी क्या स्वतंत्र भारत के नागरिक अपनी दलगत सीमाओं को त्याग कर सच्चे अर्थों में भारतीय नहीं बन पाये हैं?"

मेरा विश्वास है, आहुत होने से पूर्व कोई देशभक्त किसी संस्था-विशेष से सम्बद्ध भले ही रहा हो, किंतु बलि होने के पश्चात् निश्चय ही वह सम्पूर्ण राष्ट्र का पूजनीय बन जाता है; सम्पूर्ण राष्ट्र का समान रूप से उस पर अधिकार हो जाता है; दल की सीमाओं से वह बहुत ऊपर उठ जाता है। मेरे विचार में, न तो किसी दल-विशेष को उस पर अधिकार जताना चाहिए और न किसी दल-विशेष से उसे सम्बद्ध माना जाना चाहिए।

निस्संदेह जनतंत्र में दलों का विशेष महत्व है; और जब तक भारत में जनतत्र है, दलों का अस्तित्व बना रहना स्वाभाविक है। परन्तु एक बात प्रत्येक भारतीय के (चाहे वह किसी भी दल से सम्बद्ध क्यों न हो) मानस-पटल पर स्पष्ट रूप में अंकित रहने की आवश्यकता है– पंथ अनेक हो सकते हैं; किंतु हम सब का ध्येय एक है। हमने भारत माता की सेवा का परम पावन व्रत लिया है और उसी को सम्पूर्ण शक्ति से पूर्ण करना हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। लक्ष्य पर पहुँचने के मार्ग भिन्न हो सकते हैं, किन्तु भिन्न मार्गावलम्बियों में संघर्ष क्यों, कटुता क्यों?

मुझे दीख रहा है कि परम 'राष्ट्रीय' और 'विशुद्ध निःस्वार्थी' घोषित किये जाने वाले दलों के लोगों में भी निकृष्टतम दलगत

भावना का विष घुसता जा रहा। यथार्थ में, हम ध्येय की अपेक्षा पथ के प्रेमी बन गये हैं; स्वयं को देशभक्त और राष्ट्रभक्त घोषित करते हुए भी संस्था-भक्त बने जा रहे हैं। दल के कल्याण में ही राष्ट्र का कल्याण मान कर राष्ट्र-कल्याण की उपेक्षा की जा रही है; दल-कल्याण में ही सारी शक्ति व्यय की जा रही है। कहाँ है स्वामी रामतीर्थ जैसी महाविभूतियाँ, जो कह सकें और साथ ही साथ समझ भी सकें, "भारत की समस्त संस्थाएँ मेरी संस्थाएँ हैं; सभी संस्थाओं के माध्यम से मैं राष्ट्र की सेवा करूँगा।"

• • •

संस्थायें क्यों बनती हैं ? मेरे विचार से, जब किसी असामान्य पुरुष के अन्तर में समाज-कल्याण की भावना प्रज्वलित होती है, वह ज्ञान का दीप लेकर कल्याण के मार्ग पर चल देता है। उसके पद-चिह्नों से मार्ग का निर्माण होता है। लोग उस मार्ग पर चल देते हैं। वह असामान्य पुरुष नेता होता है और उसके पीछे चलने वाले अनुयायी; और दोनों को मिला कर जो पुञ्ज बनता है, वह संस्था कहलाती है। जब तक नेता जीवित रहता है, संस्था बढ़ती रहती है, प्रगति दिखायी देती है। किन्तु जब नेता सामने से हट जाता है, चारों ओर अंधकार ही अंधकार छा जाता है। कुछ दिनों तक इस अंधकार में भी पूर्वगति के परिणामस्वरूप संस्था आगे बढ़ती दिखाई देती है। अनुयायियों में जो सबसे आगे रहते हैं, वही नेता मान लिये जाते

हैं। किंतु संसार का इतिहास साक्षी है कि नेता बनाये नहीं जा सकते। नेतृत्व बाह्य प्रदर्शन की वस्तु नहीं है; यह तो अंतःप्रवित और आन्तरिक स्फूर्ति का परिणाम है। परिणामतः, अन्तश्चक्षु से हीन यह पूर्वगति के परिणामस्वरूप बना नेतृत्व, स्वयं को परम ज्ञानी घोषित करते हुए भी दिशाज्ञान के अभाव में पंथ का भक्त बन जाता है; उसे इसी में निज कल्याण दीखता है कि लोग पंथ की उपासना करें। बस पंथ की उपासना प्रारम्भ हो जाती है; काशी के विश्वनाथ के दर्शन का अभिलाषी सड़क पर पड़े कंकड़ का पुजारी बन जाता है। और जब एक नहीं अनेक कंकड़ के पुजारी हों, सड़क पर पड़े एक-एक कंकड़ के लिए सिर-फुटौवल होना स्वाभाविक है। किंतु कौन बताये इन नयनहीनों को कि जिससे तुम चिपटे हुए हो, वह घट-घटव्यापी विश्वनाथ नहीं है, यह तो सड़क पर पड़ा कंकड़ है, जिसका कोई मूल्य नहीं होता।

कहावत है—पानी रुकता है, सड़ांयंध पैदा होती है। मेरे विचार से, जब किसी संस्था का चेतन-प्रवाह रुकता है, संस्था सड़ने लगती है और उसकी सड़ांयंध से सम्पूर्ण राष्ट्र का वातावरण दूषित होने लगता है। गत नेता की दुहाई दे-दे कर उस वातावरण को सुगंधित करने का प्रयास किया जाता है। परन्तु किस में सामर्थ्य है शव की दुर्गंध मिटाने का ?

भारत राष्ट्र अमर है; चिरकाल से रहा है, चिरकाल तक रहेगा। उसी की साधना करें हम सब —संस्था का मोह त्याग कर,

पथ का प्रेम छोड कर। राष्ट्र का पथ भी राष्ट्र के जीवन के समान अनन्त है, कोई भी संस्था—जो निश्चय ही अल्पजीवी है—उसके मार्गदर्शन का ठेका नहीं ले सकती। संस्था का काम केवल इतना ही है कि वह कुछ दिन राष्ट्र-पुरुष की सहगामिनी बने और फिर मिट्टी में मिल कर नवांकुर की भूमिका तैयार करे।

● ● ●

न ईश्वरविश्वासी, न आत्मविश्वासी

एक मित्र से चर्चा चल रही थी सामाजिक अवस्था के बारे में। जब काफी चर्चा चल चुकी, मैं मित्र के उत्साह, तर्क-नैपुण्य और शुद्ध विचारों से प्रभावित हो पूछ बैठा— शंकर ने अकेले, बौद्ध वितण्डावाद से ग्रस्त राष्ट्र का उद्धार कर दिया। क्या हम आज की व्याधियों से समाज को मुक्त नहीं कर सकते ?

सहज उत्तर था— मुझे कोई शंकर दिखाई दे, तो उसका अनुगमन कर सकता हूं; स्वयं में शंकर बनने की क्षमता दिखाई नहीं देती ! वे तो जन्मजात प्रतिभाशाली होते हैं। ईश्वर की उन पर विशेष कृपा होती है।

किसी अन्य अवसर पर फिर उन्हीं मित्र से चर्चा चली। काफी चर्चा चलने के बाद मैंने मत व्यक्त किया— भाई ! संसार का चक्र अपनी गति से घूम रहा है। हमारे चाहने और न चाहने पर भी वह घूमता रहेगा।

मनुष्य उसमें सहायक हो सकता है, उसकी गति में परिवर्तन उपस्थित नहीं कर सकता। उसको दिशा देने वाला तो ईश्वर ही है।

मित्र तुरन्त कह उठे — वाह ! यह कैसे माना जा सकता है ? *इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें !*

मैं चुप हो गया !

• • •

अब तक जितना मैंने विचार किया है, उससे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि व्यक्ति को निराशामुक्त होकर सतत कर्मरत रहने की *प्रेरणा दो ही आधारों पर प्राप्त हो सकती है– या तो* पूर्ण ईश्वर-विश्वास के आधार पर अथवा पूर्ण आत्मविश्वास के आधार पर। ईश्वरविश्वासी सफलता-असफलता को भगवान् का प्रसाद मान कर कार्य में जुटा रहता है, एक क्षण को भी निराश नहीं होता। और आत्मविश्वासी असफलताओं को सफलताओं में परिणत करने का अनन्य विश्वास रखते हुए परिस्थितियों से जूझता रहता है और एक क्षण को भी निराश होता नहीं जानता !

पर, हमारी स्थिति दोनों से भिन्न है–यह उपर्युक्त उद्धरण से ही स्पष्ट है। न हममें पूर्ण आत्मविश्वास है और न ईश्वर-विश्वास ही। जब ईश्वरविश्वास की चर्चा की जाय, हम आत्म-विश्वासी हैं और जब आत्मविश्वास की चर्चा की जाय, हम ईश्वरविश्वासी। कभी-कभी तो शायद हम ईश्वर की चर्चा केवल इसलिए करते हैं कि कहीं हमें नास्तिक न समझ लिया जाय और

इसी प्रकार आत्मविश्वास की चर्चा इसलिए करते हैं कि कहीं हमें 'मरे दिल' न मान लिया जाय। परन्तु जिस समय असफलता की पिशाचिनी हमारे सामने आ खड़ी होती है, हम विश्वास के दोनों छोरों से परे स्वयं को निराशा के अंधकूप में पड़ा पाते हैं और दूसरों की सफलता से ईर्ष्या करके अथवा अपनी असफलता को दूसरे के सिर मढ़ कर आत्मसंतोष कर लिया करते हैं।

क्या ही अच्छा रहे यदि हम इस आत्मप्रवंचन से बचने के लिए विश्वास के दोनों सूत्रों– ईश्वरविश्वास एवं आत्मविश्वास– में से किसी एक को दृढ़तापूर्वक पकड़ लें ! दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं अपरंच पूरक हैं, इसलिए हम दोनों को भी अपना सकते हैं –परन्तु अपनाते समय मन को टटोल लें कि कहीं उन्हें हम एक दूसरे के 'मारक' के रूप में तो अंगीकार नहीं कर रहे हैं।

● ● ●

साधना

२४ मई १९५७ का दिन था। बदरीनाथ की परम पवित्र नगरी। अलकनंदा का जल कल-कल कर बह रहा था। नदी के बायें तट पर एक छोटी-सी झोंपड़ी थी। मैं एक भिखारी के रूप में झोंपड़ी के द्वार पर खड़ा हुआ था—ज्ञान की भिक्षा की आस लगाए हुए। झोंपड़ी में एक संत का वास था। संत एक महान् साधक थे।

काफी समय तक खड़ा रहा। तब उन्हीं कृपा-कोर हुई। पूछा—"क्या चाहते हो ?"

मैंने विनम्रता से उत्तर दिया, "आशीर्वाद !"

"व्यक्ति कार्य के बल पर सफल होता है, किसी का आशीर्वाद या किसी की कृपा उसके मार्ग में सहायक सिद्ध नहीं होते। कर्म करो, केवल कर्म। और कोई उपाय नहीं है।"

में कुछ और पूछना चाहता ही था कि उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा—"मेरा और अपना दोनों का समय व्यर्थ न करो। कर्म करो।"

और जब मेरा आग्रह कुछ प्रबल होते देखा, संत उठ कर चल दिये।

मुझे लगा कि इन सन्यासियों के भी कितने नखरे होते हैं! बिना सुने ही उपदेश! इतनी दूर से ज्ञान की भिक्षा माँगने आये हुए व्यक्ति की इतनी उपेक्षा!

● ● ●

एक प्रतिक्रिया लेकर मैं चल दिया। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, मेरे अन्तर ने ध्वनि की—संत ठीक थे, प्रतिक्रिया गलत थी। जितना सोचा उतना ही लगा कि किसी का आशीर्वाद थोड़े समय के लिए हमें संतोष भले ही प्रदान कर दे, किन्तु जीवन की राह पर बिछे हुए कांटों को नहीं हटा सकता, उनके स्थान पर सुकोमल कुसुम नहीं खिला सकता। उसके लिए हमें स्वयं कर्म करना होगा।

कर्म व्यक्ति के जीवन का निर्माण करता है, उसमें प्रतिभा और आभा का संचार करता है। इसी आभा और प्रतिभा के सहारे लोक संग्रह सम्भव हो पाता है। केवल किसी मंत्र को रट लने से अथवा स्वयं को किसी व्यक्ति विशेष का अनुयायी घोषित करने से प्रतिभा और आभा प्रस्फुटित नहीं हो सकती। उसके लिए तो कठोर कर्तव्य की आवश्यकता होती है। कठोर

कर्तृत्व के बिना आज तक संसार मे कोई महान् कार्य नहीं हो सका है।

• • •

कितने लोग स्वय को विवेकानन्द का शिष्य घोषित करते हैं, कितने लोग स्वय को स्वामी दयानद का अनुयायी बताते हैं और कितने लोग शकर के उदाहरण देते हुए सुने जाते हैं। परन्तु जो काम अकेले विवेकानद, दयानद या शकर कर सके, वह सब अनुयायी और शिष्य मिल कर भी नहीं कर पा रहे हैं। क्यों ?

क्योंकि हम उन महापुरुषों की कमाई को निठल्ले बैठ कर खाना चाहते हैं, उनके नाम पर अपना व्यवसाय चलाना चाहते हैं। हम अपने पुरुषार्थ का, अपनी आन्तरिक शक्ति का मथन करना नहीं चाहते। दूसरों के द्वारा अर्जित नवनीत से हम शरीर को पुष्ट करना चाहते हैं, अपने हाथों से दूध मथ कर नवनीत निकालने का श्रम हम करना नहीं चाहते। ध्यान रहे, *जिसमें प्रतिभा नहीं है, गरिमा नहीं है, उसका प्रभाव नहीं पड़* सकता। प्रकृति इसकी साक्षी है। हीरे का प्रभाव पडता है, कोयले से कोई प्रभावित नहीं होता। किन्तु कोयले से हीरा बनने के लिए दब दब कर स्वय को कितना ठोस बनाना पडता है ! जिस प्रकार कोयले से हीरा बनने के लिए ठोसपन प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नर से नारायण बनने के लिए भी गुरुता प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है। मैं नारायण उसी नर को समझता हूँ जो श्रेष्ठता के मार्ग पर चल

कर श्रेष्ठ बनने की प्रेरणा दे, लोगों के जीवन में क्रान्ति उपस्थित कर दे।

वास्तव मे ऐसे नर-श्रेष्ठ बोलते नहीं हैं, करते हैं। उनके पद-चाप से संसार घूमता है, संकेत से उथल-पुथल मचती है, आत्मशक्ति से जन-समूह खिचे चले आते है। मूक रहने पर भी वे महान् उपदेशक होते है, स्थिर होने पर भी उनकी गति पवन के समान द्रुत रहती है। क्यों? क्योंकि वे साधक होते हैं, साधना-सम्पन्न होते हैं। साधना मे एक अलौकिक शक्ति रहती है।

कुछ उदाहरण देकर निबन्ध समाप्त करूँगा।

• • •

अमरीका के राष्ट्रपति से स्वामी राम की भेंट हुई।

भेंट के पश्चात् राष्ट्रपति से जब स्वामीजी के सम्बन्ध में पूछा गया, उन्होने उत्तर दिया – "उस व्यक्ति की मुसकान में अद्‌भुत चमत्कार है। उसने मुझे पूरी तरह मोह लिया।"

केवल एक मुसकान ने प्रभावित किया! न दर्शन था, न वाक्‌चातुर्य था और न था विद्वत्ता के भार से लदा भाषण!! केवल, केवल एक मुसकान!

• • •

कासगंज की घटना है। दो खूंख्वार सांड़ लड़ रहे थे। स्वामी दयानन्द उनके समीप पहुँचे और सींग पकड़ कर दोनों को अलग कर दिया। दोनों सांड़ मुँह लटकाए एक दूसरे से विपरीत दिशा मे चले गए।

कैसा व्यक्तित्व होगा उस महापुरुष का जिसका अनुशासन पशुओं को भी मान्य !

● ● ●

शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन चल रहा था। बहुत मुश्किल से स्वामी विवेकानन्द को केवल पाँच मिनट दिए गए।

परन्तु जैसे ही स्वामीजी के मुख से 'माई डीयर ब्रदर्स एण्ड सिस्टर्स' निकला, उपस्थित जनता हर्ष-विह्वल हो उठी और लगातार कई दिन तक स्वामीजी का ही भाषण सुनती रही।

कैसी व्यंजना थी केवल दो शब्दों में !

● ● ●

मुझे लगता है कि उक्त दृष्टांतों के पीछे उक्त महापुरुषों का तप-पूत जीवन और अनन्य साधना का प्रभाव काम कर रहा था। यही साधना व्यक्ति के जीवन को महान् बनाती है। साधना में अद्भुत चमत्कार रहता है।

क्या हम साधना के पथ पर कदम बढ़ाने को तैयार होंगे ? क्या हम वाग्जाल रचने की अपेक्षा स्व-जीवन को तपस्या की सुदृढ़ आधार-शिला पर खड़ा करेंगे ?

वाग्जाल हमें विद्वानों की श्रेणी में भले खड़ा कर दे, किन्तु उन महापुरुषों की श्रेणी में खड़ा नहीं कर सकता जो जन-जन के जीवन को बदल देते हैं, सामान्य से सामान्य व्यक्ति के जीवन में नव-स्फूर्ति, नव-चेतना और नव-जागृति का संचार कर देते हैं।

● ● ●

भारत के साधु !

बदरीनाथ का मन्दिर था। प्रसाद-वितरण का समय था। दो लाइनें लगी हुई थीं—एक उनकी जिन्होंने चढ़ावा चढ़ाया था; दूसरी उनकी जो साधु थे।

प्रसाद बँटना शुरू हुआ।

चढ़ावा चढ़ाने वालों को चढ़ावे के हिसाब से भात, दाल और पूए का प्रसाद मिलने लगा और साधुओं को खिचड़ी का।

साधुओं की लाइन मे कुछ क्षणो में ही हलचल हुई। एक साधु दूसरे को धक्का देकर आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा, कोई-कोई दो-दो बार प्रसाद प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। कुछ ही देर मे वितरकों के डंडे बरसने लगे।

पूछने से पता चला कि यहाँ रोज यही होता है।

● ● ●

कैसा व्यक्तित्व होगा उस महापुरुष का जिसका अनुशासन पशुओं को भी मान्य !

● ● ●

शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन चल रहा था। बहुत मुश्किल से स्वामी विवेकानन्द को केवल पांच मिनट दिए गए।

परन्तु जैसे ही स्वामीजी के मुख से 'माई डीयर ब्रदर्स एण्ड सिस्टर्स' निकला, उपस्थित जनता हर्ष-विह्वल हो उठी और लगातार कई दिन तक स्वामीजी का ही भाषण सुनती रही।

कैसी व्यंजना थी केवल दो शब्दों में !

● ● ●

मुझे लगता है कि उक्त दृष्टांतों के पीछे उक्त महापुरुषों का तपःपूत जीवन और अनन्य साधना का प्रभाव काम कर रहा था। यही साधना व्यक्ति के जीवन को महान् बनाती है। साधना में अद्भुत चमत्कार रहता है।

क्या हम साधना के पथ पर कदम बढ़ाने को तैयार होंगे ? क्या हम वाग्जाल रचने की अपेक्षा स्व-जीवन को तपस्या की सुदृढ़ आधार-शिला पर खड़ा करेंगे ?

वाग्जाल हमें विद्वानों की श्रेणी में भले खड़ा कर दे, किन्तु उन महापुरुषों की श्रेणी में खड़ा नहीं कर सकता जो जन-जन के जीवन को बदल देते हैं, सामान्य से सामान्य व्यक्ति के जीवन में नव-स्फूर्ति, नव-चेतना और नव-जाग्रति का संचार कर देते हैं।

● ● ●

भारत के साधु !

बदरीनाथ का मन्दिर था। प्रसाद-वितरण का समय था। दो लाइनें लगी हुई थीं—एक उनकी जिन्होंने चढ़ावा चढ़ाया था, दूसरी उनकी जो साधु थे।

प्रसाद बँटना शुरू हुआ।

चढ़ावा चढ़ाने वालों को चढ़ावे के हिसाब से भात, दाल और पूए का प्रसाद मिलने लगा और साधुओं को खिचड़ी का।

साधुओं की लाइन मे कुछ क्षणो में ही हलचल हुई। एक साधु दूसरे को धक्का देकर आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा, कोई-कोई दो दो बार प्रसाद प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। कुछ ही देर मे वितरकों के डंडे बरसने लगे।

पूछने से पता चला कि वहाँ रोज यही होता है।

● ● ●

कैसी दुर्दशा है मंदिरों और साधुओं की !! मैं पूछता हूँ मंदिरों के व्यवस्थापकों से—कौन से भगवान् हैं तुम्हारे जो दुर्गत चाहते हैं ? कौन से भगवान् ने तुम्हें अपने प्रसाद का व्यापार करने का आदेश दिया है ? कौन से भगवान् ने तुम्हें अपने निवास के प्रांगण में साधुओं पर डंडे बरसाने का अधिकार दिया है ?

तुम कहोगे—साधु बेसब्री बरतते हैं, बार-बार बार प्रसाद लेते हैं। मगर बताओ तो सही अगर साधु गलती करते हैं तो क्या तुम्हें भी करनी चाहिये ? क्यों नहीं भगवान् के फाटक उन्मुक्त खोल देते ? क्या तुम समझते हो कि त्रिभुवन के स्वामी की व्यवस्था तुम करते हो या कर सकते हो ?

अगर तुम्हारे आँखें होतीं तो निश्चय दिखाई देता कि भगवान् तुम्हारे कार्यों और व्यवहारों पर हँस रहे हैं; तुम्हारी नासमझी पर तुम्हें धिक्कार रहे हैं ! इतना ही नहीं, शायद, तुम्हारे दुष्कृत्यों से रुष्ट होकर तुम्हारे देवालयों से चले गये हैं। अन्यथा, जो भगवान् भक्तों की पुकार पर बोल उठते थे, मुसकरा पड़ते थे, आज क्यों नहीं बोलते, क्यों नहीं मुसकराते ?

अब मैं पूछता हूँ साधुओं से—

क्या आपका स्वाभिमान इस सीमा तक समाप्त हो गया है कि आपको डंडे खाकर भी समझ नहीं आती ? आप कहेंगे, साधु का कोई स्वाभिमान ही नहीं रहता। मगर कौन-से शास्त्र में लिखा है कि साधु को स्पृही होना चाहिए ? कौन से शास्त्र में लिखा है कि उदर-पूर्ति के लिए लोगों की ठोकरें खानी चाहिए ?

स्मरण रहे, भारत के साधु का आदर्श बहुत ऊँचा है! साधारण आदमी की बात तो कौन कहे, बड़े से बड़े सम्राट् के समक्ष भी यह हाथ नहीं पसारता। इतना ही क्यों, यह घर आई लक्ष्मी को भी हँसते-हँसते ठुकरा देता है। यह लक्ष्मी का नहीं, भगवान् का पुजारी होता है।

आप कहेंगे, हम भगवान् का प्रसाद लेने ही तो देवालय में जाते हैं। मैं कहता हूँ—हे साधु! भारत के साधु! एक बार निश्चय करने की जरूरत है, आपको भगवान् का प्रसाद लेने किसी मन्दिर के द्वार पर भटकना नहीं पड़ेगा, प्रसाद स्वयं आपके पास आएगा। प्रसाद की कौन चलायी, भगवान् स्वयं आपके पास आएँगे! क्या आपको स्मरण नहीं है भारत के उन साधुओं का इतिहास जिनकी खोज-खबर लेने के लिए भगवान् भी व्याकुल हो दौड़ पड़ते थे? क्या आप स्वयं को उनसे निर्बल अनुभव करते हैं?

● ● ●

यह उपदेश नहीं है। यह अन्तर्वेदना है। उपदेश क्या करूँगा उनको, जिनकी कृपा-कोर के लिए स्वयं तरस रहा हूँ!!

● ● ●

सहानुभूति चाहिए

बम्बई की एक अनेक मंजिली इमारत के नी
'फ्लैट' में एक सज्जन रहते हैं। उनके पुत्रोत्पत्ति
गाना-बजाना चलता रहा, खुशियाँ मनाई जाती रहं

उसी समय दुर्भाग्य से ऊपरी 'फ्लैट' पर रहने
परिवार के एक सदस्य की मृत्यु हो गई। [illegible]
श्मशान-भूमि ले जाने की योजनाएँ [illegible]।

जिन सज्जन के पुत्रोत्पत्ति हुई थी, उन्होंने [illegible]
खड़ी कर दी—"मेरे घर में खुशी है; किसी भी [illegible]
पर लाश मेरे दरवाजे से नहीं गुजर सकती।"

बहुत समझाया गया। मगर कोई असर नह
गरमी यहाँ तक आई उक्त महानुभाव को [illegible]
से तलवार निकाल लाए और घुमा-घुमा कर लगे कह
"देखता हूँ, कौन मेरे दरवाजे से लाश निकालता है
निकालने वाले की भी साथ में लाश निकलेगी।"

गमी का मौका था। हृदय भरे हुए थे। भगड़ा टटा करना उचित नहीं समझा गया। लाश को रस्सी से बांध कर पांच मंजिल ऊपर से नीचे सडक पर उतार दिया गया।

• • •

एक परम स्नेही ने जब मुझे यह घटना सुनाई, मैं सुन कर दंग रह गया। क्या मनुष्य इतना भी नीच हो सकता है कि अपने सुख में मस्त होकर दूसरे के दुःख--मृत्यु जैसे दुःख--को समझने मे भी असमर्थ हो जाय? क्या मनुष्य इतना विवेकहीन हो सकता है कि भूल ही जाय कि एक न एक दिन मृत्यु उसको भी समेटने वाली है?

जो भी हो, हिन्दू समाज मे--उस हिन्दू समाज मे जिसमे पडोसी की तो कौन कहे गांव का गांव तब तक पानी नहीं पीता था जब तक कि लाश न उठ जाती, आज ऐसा विचित्र वातावरण निर्माण हो रहा है कि लाशों को मरघट पर पहुँचाने के लिए आदमी नहीं मिलते, एक ओर गमी का मातम छाया रहता है और दूसरी ओर गाने-बजाने चलते रहते हैं।

हद है हृदयहीनता की! यदि यह हृदयहीनता अधिक बढ़ी तो न जाने समाज की क्या दशा होगी!! हम न भूलें, जिन्दगी के सफर मे दुःख हर एक के सामने आने वाले हैं। हम दूसरों के दुःख को अगर नहीं समझ सकेंगे, तो हमारे दुःखों को कौन समझेगा? अगर हम किसी के साथ सहानुभूति नहीं रख सकेंगे, तो कौन हमारे प्रति सहानुभूति रखेगा?

हम अपने अन्तःकरण में सहानुभूति जगाएँ; उसके संसार एक दिन भी नहीं चल सकता। किंतु यह भी न भू दिखावटी सहानुभूति सहानुभूतिहीनता से भी अधिक भयं और, इसलिए, हमारी सहानुभूति सच्ची हो, इसका हम भूतिपूर्ण बनने से भी पहले निश्चय कर लें।